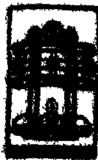
अन्तर्द्वन्द्वों के पार

गोम्मटेश्वर बाहुबली

लक्ष्मीचन्द्र जैन



भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

लोकोदय ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक 406
सम्पादक एवं नियोजक
लक्ष्मीचन्द्र जैन
जगदीश



अन्तर्द्वन्द्वों के पार : गोम्मटेश्वर बाहुबली

(इतिहास : ललित साहित्य)

लक्ष्मीचन्द्र जैन

प्रकाशक
भारतीय ज्ञानपीठ
बी/45-47 कनॉट प्लेस, नयी दिल्ली-110001
प्रथम संस्करण : 1979 मूल्य : 25 रुपये



ANTARDVANDVON KE PAAR : GOMMATESHVAR BAHUBALI
(*History : Belles Lettres*)
by LAKSHMI CHANDRA JAIN



BHARATIYA JNANPITH
B/45-47 Connaught Place
NEW DELHI-110001
First Edition : 1979 Price Rs. 25.00

मुद्रक
शब्दशिल्पी
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

आशीर्वचन

सदा से हमारा यह विश्वास रहा है कि विश्व के धर्मों में एकता के कुछ सबल सूत्र विद्यमान हैं, जिनकी ओर मनीषियों का अपेक्षित ध्यान नहीं गया है। इन सूत्रों के अनुसन्धान से विश्व की बहुरंगी संस्कृतियों और धर्मों की अनेकता में एकता के सोपान-पथ का सृजन किया जा सकता है। आद्य तीर्थंकर ऋषभदेव का व्यक्तित्व एक ऐसी आधारशिला है, जिसके ऊपर विश्व के समस्त धर्मों का एक सर्वमान्य प्रासाद खड़ा किया जा सकता है।

प्रायः समस्त धर्मों में आदिदेव ऋषभनाथ का विभिन्न नामों से स्मरण किया गया है। उनके इतिवृत्त के चित्र में भरत-बाहुबली के रंगों से पूर्णता आई है। भरत और बाहुबली दोनों महामानव थे। दोनों के चरित्र स्वतन्त्र हैं, किन्तु दोनों परस्पर पूरक भी हैं। बाहुबली का चरित्र बहुरंगी है और उसका प्रत्येक रंग चटकदार है। उनकी महानता आकाश की ऊँचाइयों को छूती है। उनके जीवन के हर मोड़ पर एक नया कीर्तिमान स्थापित होता चलता है।

वे इस युग के प्रथम कामदेव (त्रिलोकसुन्दर) थे, अतः गोम्मटेश्वर कहलाते थे। सुन्दर थे, सौम्य थे, साथ ही अप्रतिम बली थे। इसलिए वे बाहुबली कहलाते थे। वे अपने अधिकारों की रक्षा के प्रति सदा सजग रहते थे। अधिकारों की रक्षा करने का साहस और सामर्थ्य भी थी, किन्तु कर्त्तव्यों के प्रति सर्वतोभावेन समर्पित थे। भरत दिग्विजय कर सार्वभौम सम्राट् का विरुद प्राप्त करना चाहते थे। बाहुबली का स्वतन्त्र अस्तित्व इसमें बाधक बन रहा था। प्रश्न राज्य-लिप्सा का न रहकर शासनतन्त्र की निर्बाध सत्ता का बन गया था। बाहुबली के मन में भरत की अवज्ञा के भाव नहीं थे, किन्तु पिता से प्राप्त राज्य का उपभोग और उसकी सुरक्षा उनका अधिकार था। उस अधिकार की रक्षा करना ही अब उनका कर्त्तव्य बन गया था। दोनों के अपने दृष्टिकोण थे, दोनों को ही अपने पक्ष के औचित्य का आग्रह था। इस आग्रह ने युद्ध के अतिरिक्त सभी मार्ग अवरुद्ध कर दिये। एक सार्वभौम चक्रवर्ती सम्राट् के साथ एक नगर के साधारण राजा का युद्ध करने का यह दुस्साहस भले ही रहा हो, किन्तु अपने अधिकारों की रक्षा के लिए, अपनी स्वतन्त्रता की

रक्षा करने के लिए प्राणोत्सर्ग तक करने का यह प्रथम उदाहरण था।

बुद्धिसागर आदि मन्त्रियों के बुद्धि-कौशल से हिंसक और संहारक युद्ध की विभीषिका टल गई। दोनों भाईयों के लिए दृष्टि-युद्ध, जल-युद्ध और मल्ल-युद्ध— ये तीन युद्ध निर्धारित हुए और इन युद्धों के परिणाम पर ही हार-जीत का निर्णय हुआ। विश्व-इतिहास में सम्भवत: ऐसे निर्णायक अहिंसक युद्ध का दृष्टान्त अन्यत्र नहीं मिलता। इसे हम विश्व में प्रथम अहिंसक युद्ध कह सकते हैं।

उस क्षण बाहुबली के मन में अधिकार ही कर्त्तव्य बन गया था। उन्होंने दृष्टि-युद्ध और जल-युद्ध में विजय प्राप्त करली थी, किंतु मल्ल-युद्ध शेष था। वह अन्तिम और निर्णायक युद्ध था। दोनों भ्राताओं में मल्ल-युद्ध हुआ। दोनों ही मल्ल-विद्या के मँजे हुए खिलाड़ी थे। बाहुबली भरत पर छाते गए, उन्होंने फुर्ती से भरत को दोनों हाथों से उठा लिया। चाहते तो जमीन पर दे मारते, किन्तु नहीं, उन्होंने धीरे से भरत को उतारा और विनय से उच्च आसन पर खड़ा कर दिया। इस प्रकार उन्होंने अपने कर्त्तव्य का पालन किया। अब कर्त्तव्य ही उनके लिए अधिकार बन गया।

भरत चक्रवर्ती थे। तीनों युद्धों में पराजय उनका सार्वजनिक अपमान था। सत्ता की रक्षा करना शासन का अधिकार है, औचित्य का विवेक उसमें बाधक नहीं बनता। वहाँ अधिकार की रक्षा करना ही कर्त्तव्य है। इसी भावनावश भरत ने बाहुबली के ऊपर चक्र चला दिया। बाहुबली के तन को तो चोट नहीं लगी, पर मन को चोट पहुँची। जनता ने भरत के इस कृत्य की निन्दा की, क्योंकि उसने एक चक्रवर्ती के अधिकार की दृष्टि से नहीं, सामान्य जन के कर्त्तव्य की दृष्टि से इस घटना को लिया।

बाहुबली इस घटना से बेहद खिन्न हो गये। खिन्नता की तीव्रता ने उनके मन में वैराग्य भर दिया। जमीन, राज्य, भरत—सभी से अब उन्हें कोई मोह नहीं रहा, वे श्रमण मुनि बन गए। खड़े होकर निर्जन स्थान में अत्यन्त कठोर तप करने लगे, ऐसा तप जो कभी किसी ने नहीं किया। एक वर्ष बीत गया इसी अवस्था में, किन्तु केवलज्ञान (परम ज्ञान) नहीं हुआ। खिन्नता की रेख कि राज्य तो छोड़ दिया, किन्तु दो पैर तो अभी भरत की भूमि पर ही खड़े हैं। भरत ने आकर सरल भाव से, विनयसे, क्षमा माँगी तो बाहुबली को उसी क्षण केवलज्ञान हो गया। बाहुबली के मुनि बनने के समय भी भरत ने क्षमा माँगी थी, किन्तु तब बाहुबली के मन में खिन्नता का ज्वारभाटा उमड़-घुमड़ रहा था। धीरे-धीरे खिन्नता का वेग कम होता गया। अब तो खिन्नता की रेख मात्र बाकी थी, भरत द्वारा क्षमा माँगने पर वह भी मिट गई।

बाहुबली सर्वज्ञ, सर्वदर्शी हो गए। वे कुछ ही वर्ष बाद शेष कर्मों का नाश करके मुक्त हो गए। वे इस काल में सर्वप्रथम मुक्त हुए।

बाहुबली की यह घटना जैन समाज में जानी-पहचानी है। किन्तु इस घटना का मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से विश्लेषण कभी नहीं हो पाया। उन्हीं गोम्मटेश्वर बाहुबली की 57 फुट उत्तुंग विशाल आकार की एक अद्भुत लावण्यमयी मूर्ति श्रवणबेलगोल में विगत 1000 वर्षों से विराजमान है। उस मूर्ति के कारण ही यह स्थान जगद्विख्यात तीर्थ और लक्ष-लक्ष जनों की श्रद्धा का केन्द्र पावन तीर्थ बन गया है। किन्तु इस प्रस्तर मूर्ति और क्षेत्र का पुरातात्त्विक, कलात्मक, ऐतिहासिक, एवं सांस्कृतिक दृष्टिकोण से कभी विश्लेषण नहीं किया गया।

धर्मानुगामी श्री लक्ष्मीचन्द्रजी साहित्य-जगत् में सुपरिचित हैं। लेखनी पर उनको अधिकार प्राप्त है। उनके लिखने की शैली कथ्य के रहस्य की परतें उतारती हुई प्रतीत होती है। उनकी शब्द-संयोजना में कला परिलक्षित होती है। सन् 1981 में होने वाले गोम्मटेश्वर बाहुबली के सहस्राब्द महामहोत्सव के उपलक्ष्य में श्री लक्ष्मीचन्द्र ने प्रस्तुत अनुसन्धानपूर्ण पुस्तक '**अन्तर्द्वन्द्वों के पार : गोम्मटेश्वर बाहुबली**' अत्यन्त रोचक और विश्लेषणात्मक शैली में लिखी है। इससे मूर्ति और क्षेत्र दोनों के सम्बन्ध में अनेक नवीन ज्ञातव्य रहस्यों पर प्रकाश पड़ा है। इस कृति के लिए विद्वान् लेखक साधुवादार्ह हैं।

शुभाशीर्वाद।

अजमेर
10-4-79

– आचार्य विद्यानन्द

स्वस्ति-वाक्

भगवान गोम्मटेश्वर मूर्तिप्रतिष्ठा-सहस्राब्दि-महोत्सव के उपलक्ष्य में क्षेत्र के पौराणिक, ऐतिहासिक एवं सामयिक परिस्थिति को चलचित्र के माध्यम से प्रचार करने के लिए '**अन्तर्द्वन्द्वों के पार : गोम्मटेश्वर बाहुबली**' का प्रस्तुतिकरण आपका एक महान कार्य बन गया है। आपके द्वारा लिखित इस कृति को हमने आद्योपान्त पढ़ा। विषय सामग्री पुरातन होने पर भी संकलन की कुशलता और प्रस्तुतिकरण की क्षमता अनोखी है।

आपने इस ग्रन्थ में श्रवणबेलगोल के बारे में कई दृष्टिकोणों से खोजपूर्ण अध्ययन के द्वारा सरल, सुबोध भाषा में, नवीनतम शैली में इस क्षेत्र के इतिहास को प्रस्तुत किया है। मुझे इस विषय का हर्ष है। निस्सन्देह इस क्षेत्र के इतिहास को जिस खूबी से आपने प्रस्तुत किया है, उस तरह आज तक किसी ने भी प्रस्तुत नहीं किया।

अध्यायों के वर्गीकरण की क्रमबद्धता और शीर्षक पाठकों के लिए अत्यन्त आकर्षक सिद्ध होंगे।

शिलालेखों के अध्ययन के लिए चार काल्पनिक पात्रों के एक दल को आपने चित्रित किया है, वह अपूर्व परिकल्पना है। इसे हम आपके अनोखे चिन्तन की अभिव्यक्ति मानते हैं, जिसे पढ़कर हमें इतना हर्ष हुआ कि मानो वे चारों चन्द्रगिरि पर संभाषण करते दिखाई दे रहे हैं।

परिशिष्टों का संकलन भी एक अभूतपूर्व कार्य हुआ है।

—भट्टारक श्री चारुकीर्ति स्वामी, श्रवणबेलगोल

प्रस्थापना

इतिहास की दृष्टि मूलतः घटनाओं पर जाती है। जो घटित हो गया वही परम्परा से जानकर और मानकर कि यह 'इति-ह-आस'—'यह ऐसा हुआ'—लिपिबद्ध कर दिया गया। आज इतिहास की यह दृष्टि विकसित होकर घटनाओं की पृष्ठभूमि का भी आकलन करती है। घटनाएँ जिनके व्यक्तित्व और कृतित्व पर केन्द्रित होती हैं उनके आचार-विचार और उनकी प्रेरक भावनाओं के उत्स की खोज करती हैं। तब व्यक्तियों का परिवेश और उनका मनोजगत् इतिहास के अंग बन जाते हैं। इस प्रकार इतिहास रोमांचक हो जाता है, 'रोमांस' बन जाता है। वास्तव में हमारा प्राचीन पुराणकार इसी प्रकार के इतिहास का सर्जक है। इसी प्रकार के आधार पर जब कोई कवि महाकाव्य की रचना करता है तो उसकी कल्पना के पंख प्रसार पाकर इन्द्रधनुषी रंगों से रंजित हो जाते हैं। कवि और साहित्यकार के मन में जब इन रंगों की छटा बस जाती है तो वह मूल वस्तु के सार-तत्व को रंगों का संस्पर्श देकर कहानी, उपन्यास और नाटक लिखता है। कोरे तथ्य तब प्रीतिकर और प्रतीतिकर सत्य बन जाते हैं। अतीत के विषय में अन्तः अनुभूति प्रमाण बन जाती है।

प्रत्येक अतीत से वर्तमान उपजता है, और प्रत्येक वर्तमान भविष्य का सर्जक है। इतिहास का यह चक्र काल की ध्रुवता की धुरी पर घूमता है। दर्शन की भाषा में सत् के अस्तित्व अर्थात् 'सत्य' का यह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-मय रूप है।

अतीत के किस काल-खण्ड के छोर पर प्रारम्भ हुआ होगा वह ध्रुव जिसके चौदहवें मनु या कुलकर नाभिराय थे? स्वयं नाभिराय के पुत्र, प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ, युग-प्रणेता पुराण-पुरुष हैं। उनके छोटे पुत्र बाहुबली की कथा इतिहास के सैकड़ों-हजारों युगों को पार करती हुई, और उत्तर-दक्षिण के भूमि-खण्डों के प्राचीरों को लाँघती हुई, एक दिन आ पहुँची दक्षिण कर्नाटक के कलबप्पु (कटवप्र) पर्वत के मनोरम शिखर पर, एक विशालकाय प्रस्तर-प्रतिमा के रूप में जिसकी मुख-छवि घाटी के कल्याणी तीर्थ, धवल सरोवर (बेलगोल) में प्रतिबिम्बित हो गई।

आज से एक हजार वर्ष पहले कर्नाटक के महाप्रतापी, महाबलाधिप 'सत्य युधिष्ठिर' चामुण्डराय ने गोम्मटेश्वर बाहुबली की इस मूर्ति की स्थापना अपने गुरु नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती के सान्निध्य में की। प्रतिष्ठापना का सहस्राब्दि महोत्सव हमारी पीढ़ी सन् 1981 के प्रारम्भ में श्रवणबेल्गोल में मना रही है—तिथि और लग्न शोध कर। इस प्रकार हमारा आधुनिकतम काल जुड़ जाता है जीवन्त इतिहास के प्राचीनतम पौराणिक काल से। अनादि-काल से जीवन-मरण और आवागमन के चक्रवात में हमने मानव के और भी अनेक अभ्युदय देखे होंगे, इतिहास-निर्माण के हम सहभागी बने होंगे, किन्तु पूर्वभव का वह सब हमें पता नहीं, याद नहीं। सौभाग्य का यह क्षण तो हमारे अपने युग की आपबीती बन रहा है। इसके स्वागत में हमने पलक-पाँवड़े बिछा दिए हैं।

सहस्राब्दि समारोह के अवतरण के लिए, उसके पद-निक्षेप के लिए, भावनाओं की अनेक-अनेक रंग-बिरंगी अल्पनाएँ रची जा रही हैं। इन अल्पनाओं के सर्जक, कर्मठ नेता श्री साहू शान्तिप्रसादजी हमारे बीच नहीं रहे किन्तु धर्मगुरु उपाध्याय (अब एलाचार्य) श्री विद्यानन्दजी महाराज और श्रवणबेल्गोल के अत्यन्त निष्ठावान् और क्रियाशील भट्टारक श्री चारुकीर्तिजी स्वामी के साथ विचार-विमर्श करके जिन योजनाओं का सूत्रपात वह कर गए, वे हमारी प्रेरणा-स्रोत बन गईं। संयोग ऐसा बना कि भारतीय ज्ञानपीठ के वर्तमान अध्यक्ष श्री साहू श्रेयांसप्रसाद जैन ने उन अल्पनाओं के दायित्व-विभाजन में एक कूची मेरे हाथ में थमा दी और कहा कि भगवान बाहुबली की कथा के रूप में एक अल्पना की संरचना मैं करूँ। उनकी भावना रही है कि यह कथा ऐसी शैली में लिखी जाए कि भगवान बाहुबली के रोमांचकारी जीवन के विभिन्न आयाम सहजता के साथ उभर कर आ जायें और आज के पाठक को आकृष्ट कर सकें। काश, ऐसी शैली मैं प्राप्त कर पाता!

लेकिन, शैली ही एक ऐसी वस्तु है जो माँगी नहीं जा सकती। वह तो लेखक की निजता की अभिव्यक्ति है। लेखक में निजता और विशिष्टता है तो है, नहीं तो नहीं है, या फिर जितनी भी है। अतः अपने निजत्व को ही पाथेय बनाकर मैं चल पड़ा। इस कथा का पूरा विस्तार आचार्य जिनसेन कृत आदिपुराण में उपलब्ध है—इतना व्यापक विस्तार कि सँभाल पाना कठिन है। प्रतिभा के वरदान ने तपस्वी आचार्य जिनसेन के काव्य-कौशल को चमत्कारी बना दिया है। मैंने विनम्र भाव से आचार्य जिनसेन की कृति को कथा-भाग के सृजन का आधार बनाकर अपनी आवश्यकता के अनुसार एक संक्षिप्त ढाँचा बना लिया था। फिर पाया कि आदिनाथ-भरत-बाहुबली की कथा के अन्य स्रोत भी हैं, विशेषकर कन्नड़ साहित्य की कृतियाँ। बाहुबली के मनोभावों के पल्लवन में मैं इन कृतियों से उपकृत हुआ हूँ।

बाहुबली-आख्यान तो इस कृति का एक पक्ष है—पौराणिक पक्ष। किन्तु श्रवणबेल्गोल में भगवान बाहुबली की मूर्ति को शीर्षस्थ करनेवाला पर्वत विन्ध्यगिरि, और इस मूर्ति के निर्माण की संभावना को उद्घाटित करने वाला पर्वत चन्द्रगिरि—पौराणिक आख्यान को उस कालखण्ड से जोड़ते हैं जिसे इतिहासकार भारतीय इतिहास के विधिवत् आकलन का प्रामाणिक प्रस्थान-बिन्दु मानते हैं। वह बिन्दु है, भारत के एकछत्र साम्राज्य के विधायक सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य का काल और कूटनीति के सिद्धान्तों के विचक्षण प्रतिपादक आचार्य चाणक्य का सहवर्ती समय। चन्द्रगुप्त मौर्य, मुनिव्रत धारण करने के उपरान्त, आचार्य भद्रबाहु के नेतृत्व में उत्तर भारत से दक्षिण भारत जाने वाले सहस्रों मुनियों के संघ में सम्मिलित हो गए। श्रवणबेल्गोल का 'चन्द्रगिरि पर्वत' और पर्वत पर का मन्दिर 'चन्द्रगुप्त बसदि' आपने नाम की सार्थकता को इन्हीं चन्द्रगुप्त मौर्य के अस्तित्व में प्रतिफलित पाते हैं।

इस प्रमाण की आधार-शिला छठी-सातवीं शताब्दी का वह लेख भी है जो चन्द्रगिरि पर्वत पर निर्मित पार्श्वनाथ बसदि (मन्दिर) के दक्षिण की ओर वाली शिला पर अंकित है। इस शिलालेख की महत्ता को देखते हुए मैंने आवश्यक समझा कि पाठक इसकी शब्दावली, इसके अर्थ और इसके भाव को हृदयंगम करें। इस उद्देश्य की सिद्ध के लिए मैंने जो साहित्यिक विधा अपनायी है, वह एक ऐसा प्रयोग है जिसमें वार्तालाप, नाटकीय उत्कण्ठा, विवेचन और कविता का सम्पुट प्रतिलक्षित है। श्रवणबेल्गोल के शिलालेखों के अध्ययन से प्राप्त तथ्य और निष्कर्ष मैंने सम्बन्धित दो अध्यायों में इसी शैली में गूँथे हैं। मेरा विश्वास है, इतिहास के अध्येता इन शिलालेखों की सामग्री को आधार बनाकर शोध-खोज करेंगे जिससे अनेक ऐतिहासिक, धार्मिक, सामाजिक, दार्शनिक, साहित्यिक और भाषा-शास्त्रीय तथ्य उद्घाटित होंगे। इसी दृष्टि से इस पुस्तक में मैंने अनेक परिशिष्ट नियोजित किये हैं और प्रत्येक विषय से सम्बन्धित शिलालेखों का सन्दर्भ दिया है। भट्टारक श्री चारुकीर्ति स्वामीजी ने इन परिशिष्टों के महत्त्व को मान दिया है।

अभी तक की खोजों के अनुसार श्रवणबेल्गोल और उस के अंचल में लगभग 575 शिलालेख उपलब्ध हैं। पहली बार सन् 1889 में 144 शिलालेखों के संग्रह का सम्पादन मैसूर पुरातत्त्व विभाग के तत्कालीन अधिकारी लेविस राइस ने किया था। 34 वर्ष बाद, सन् 1923 में जो नया संस्करण प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता और संस्कृत-कन्नड के प्रकाण्ड विद्वान नरसिंहाचार ने सम्पादित किया उसके शिलालेखों की संख्या 500 तक पहुँच गई। श्री नरसिंहाचार की प्रतिभा, क्षमता, दूरदर्शिता, श्रम और अध्ययन की व्यापकता का ध्यान करता हूँ तो श्रद्धानत हो जाता हूँ। पं० नाथरामजी प्रेमी की प्रेरणा से डा० हीरालाल जैन ने सन् [illegible] में [illegible]

शिलालेखों का देवनागरी लिपि में लिप्यन्तरण करके महत्त्वपूर्ण भूमिका के साथ इन्हें माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला में प्रकाशित कराया। कतिपय शिलालेखों के तथ्य का सार भी दिया।

नरसिंहाचार की कृति का तीसरा अंग्रेजी संस्करण सन् 1971 में इन्स्टीट्यूट ऑफ कन्नड स्टडीज, मैसूर, ने प्रकाशित किया है जिसमें 573 शिलालेख संग्रहीत हैं। शिलालेखों के क्रमांक के लिए तथा उसके पाठ और अर्थ को समझने के लिए मैंने इसी संस्करण को आधार बनाया है। शिलालेख क्रमांक 1 में जिन भद्रबाहु स्वामी और उनके शिष्य (चन्द्रगुप्त) का उल्लेख है, इस सम्बन्ध में मैंने नरसिंहाचार के तर्कों और प्रमाणों को साक्ष्य माना है। यह मैं जानता हूँ कि इस सम्बन्ध में तर्क-वितर्क आज भी चल रहे हैं। किन्तु जो ठोस प्रमाण सामने हैं उन्हें नकारने की तुक मेरी समझ में नहीं आई।

वस्तुत: पुस्तक में बाहुबली-आख्यान का पौराणिक युग, श्रुतकेवली भद्रबाहु, चाणक्य और चन्द्रगुप्त मौर्य का ऐतिहासिक काल, छठी-सातवीं शताब्दी से लेकर सौ-दो सौ साल पहले तक के श्रवणबेलगोल के शिलालेखों का समय—सब संकेन्द्रित होते हैं, चामुण्डराय द्वारा स्थापित गोम्मटेश्वर मूर्ति की प्रतिष्ठापना के मंगलोत्सव की कथा पर। पौराणिक युग के आख्यान के समान यह कथा भी बड़ी रोचक है। मैंने विविध अनुश्रुतियों को भी इस कथा में समाहित कर लिया है। कन्नड साहित्य की पुरानी-नयी अनेक प्रकाशित कृतियों द्वारा कथा के ये तथ्य समर्थित हैं।

इस कृति का प्रणयन समग्र रूप से यदि किसी प्रेरणा-स्रोत को समर्पित किया जा सकता है तो भगवान बाहुबली गोम्मटेश्वर के उपरान्त, सौहार्द्र, स्नेह और सज्जनता की मूर्ति श्री साहू श्रेयांसप्रसादजी को। पुस्तक लिख मैं रहा था, किन्तु साथ-साथ वह इसके सृजन की प्रगति को आँकते जाते थे। उनके अनुचिन्तन का केन्द्र बन गए थे कृति में वर्णित कथा सूत्रों के विविध आयाम। जब मैंने पुस्तक के दो अध्याय लिख लिये तो साहूजी ने एक अन्तरंग गोष्ठी आयोजित की। बन्धुवर अक्षयकुमारजी और भाई नेमीचन्दजी तो साथ बैठे ही, हमें विशेष उत्साह मिला भूतपूर्व संसद-सदस्य श्री गंगाशरणसिंह की उपस्थिति से जिन्होंने राष्ट्रभाषा के क्षेत्र में उत्तर और दक्षिण के अनेक सक्रिय सम्पर्क-सूत्र स्थापित किये हैं। सबने मूल्यवान सुझाव दिये और कृतित्व की सराहना द्वारा प्रोत्साहित किया। पौराणिक आख्यान, सैद्धांतिक मान्यताएँ, ऐतिहासिक परिदर्शन, शिलालेखीय अध्ययन, गवेषणात्मक तथ्यों का समाहार, अनेक भाषाओं में उपलब्ध पूर्ववर्ती कवियों-लेखकों के अपने-अपने दृष्टिकोण और भावात्मक पल्लवन की विविधता—इस सबके बीच तारतम्य बैठाते हुए किसी सृजन को 'नया' बनाना दुर्गम को पार करना है।

पाण्डुलिपि का प्रारंभिक रूप तैयार होते ही मैंने इसे सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाश-चन्द्रजी, डा० ज्योतिप्रसाद जैन, श्री नीरज जैन को भेजा। सबने बहुत उत्साह

से पढ़ा और सुझाव दिये। सबके प्रति मेरी विनम्र कृतज्ञता।

भारतीय ज्ञानपीठ के साथियों ने भरपूर सहयोग दिया। पुस्तक का शीर्षक क्या हो इसके विषय में सबसे अधिक चिन्तन किया श्री साहू श्रेयांसप्रसादजी ने। कथा के मनोवैज्ञानिक पक्ष को उभारने वाले शीर्षक की कल्पनाएँ उन्होंने कीं और उनका मन टिका चामुण्डराय द्वारा आयोजित गोम्मटेश्वर के प्रथम अभिषेक को सार्थक बनाने वाली अकिंचन बुढ़िया गुल्लिका-अज्जी पर। बाहुबली तो सबके हैं, और सबका, जन-जन का, प्रतिनिधित्व करने वाली है अज्जी (दादी-मां) गुल्लिका। ज्ञानपीठ में हम लोगों ने—जगदीशजी, विमलप्रकाशजी, अमरजी, गुलाबचन्द्रजी और मैंने अलग-अलग शीर्षक सूचियाँ बनाईं, और धीरे धीरे प्रत्येक शीर्षक को अस्वीकारते गये क्योंकि पूरी बात को, बात के विविध आयामों को, समेटने में शीर्षक लम्बे हुए चले जा रहे थे। समझ लीजिये कि ये सारे शीर्षक इस कृति के नगीने में प्रतिबिम्बित हैं—'अन्तर्द्वन्द्व', 'भँवर-जाल', 'भंवरों के पार', 'संतरण और संतीर्थ', 'गुल्लिकायज्जी के विश्व-वन्द्य भगवान्' 'परमचेता बाहुबली' आदि-आदि। जो भी भाव वर्तमान शीर्षक में नहीं आ पाये, यहाँ लिख दिये हैं।

प्रत्येक विषय से संदर्भित शिलालेखों का ठीक-ठीक क्रमांक देना बड़े झमेले का काम निकला। प्राक्तन विचक्षण श्री नरसिंहाचार ने दो संस्करण प्रकाशित किये, दोनों में बहुत से शिलालेख-क्रमांक भिन्न-भिन्न हो गए। डा० हीरालालजी ने हिन्दी में शिलालेख उद्धृत किये तो साथ-साथ दो क्रमांक दिये। किन्तु अब जब 'एपीग्राफिया कर्नाटिका' का तीसरा नया संस्करण प्रकाशित हुआ तो क्रमांक पुनः बदल गए। अन्तिम परिशिष्ट को छोड़कर बाकी सभी स्थलों पर मैंने इसी नये संस्करण के क्रमांक उद्धृत किये हैं, क्योंकि अब अंग्रेजी का यही संस्करण उपलब्ध है। कठिनाई यह है कि इसमें बहुत से शिलालेख कन्नड लिपि में हैं, या फिर रोमन लिपि में। श्रवणबेल्गोल के समग्र शिलालेखों का एक हिन्दी संस्करण अपेक्षित है। डा० हीरालालजी वाला अप्रतिम संस्करण बिलकुल ही अप्राप्य है।

पूज्य ऐलाचार्य विद्यानन्दजी महाराज ने 'आशीर्वाद' के रूप में जो सारगर्भित भूमिका लिख दी है, उसके लिए मैं उनके प्रति कृतज्ञतापूर्वक प्रणत हूँ। श्रवण-बेल्गोल की तीर्थयात्रा में श्रद्धेय भट्टारक श्री चारुकीर्ति स्वामीजी ने तथ्यों के संकलन में और फिर पाण्डुलिपि के संशोधन में जो सहायता की वह कृतज्ञता की शब्दावलि में सीमित नहीं की जा सकती। मूडबिद्री मठ के युवा और तेजस्वी भट्टारक पण्डिताचार्य श्री चारुकीर्ति पी० स्वामीजी ने इस पुस्तक की पाण्डुलिपि के प्रारम्भिक अंशों को तन्मयता से सुना और महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्दजी नवयुगीन सांस्कृतिक जागरण के प्रेरणा-स्रोत हैं। उसकी धारा को प्रवहमान करने वाले आज तीन तरुण भट्टारक (श्रवणबेल्गोल, मूडबिद्री और हुम्मच के) धर्म-साधना के क्षेत्रों में क्रियाशील हैं।

उन्होंने सांस्कृतिक उन्नयन के लिए देश को ही नहीं, विदेशों को भी अपना कार्य-क्षेत्र बनाया। भविष्य के प्रति उन्होंने हमें अधिक आशान्वित किया है कि इन क्षेत्रों का सांस्कृतिक वैभव अपनी समस्त ऊर्जा के साथ प्रबुद्ध होगा।

भारतीय ज्ञानपीठ की परम्पराओं के निर्वाह और प्रगति के प्रति सदा सचेष्ट श्री साहू अशोककुमार जैन, मैनेजिंग ट्रस्टी, के प्रति आभारी हूँ कि उनकी प्रीतिकर सदाशयता के कारण यह सृजनात्मक प्रयास सम्भव हुआ।

ज्ञानपीठ में डा० गुलाबचन्द्र जैन ने शिलालेखों का क्रमांक ठीक-ठीक बनाने में बहुत परिश्रम किया है। मुद्रण का दायित्व भी उन्हीं ने संभाला है। विषयगत पूर्वापर सम्बन्ध जाँचा है। श्री गोपीलाल अमर ने जब जिस प्रकार के सहयोग की अपेक्षा हुई प्रसन्नतापूर्वक प्रस्तुत किया। दोनों का साधुवाद !

श्रवणबेल्गोल की स्थापत्य एवं कला-सम्पदा इतनी समृद्ध है कि इसे आधार बनाकर अनेक विधा-वर्गों के चित्र-सम्पुट (एल्बम) तैयार किये जा सकते हैं। जैन कला की विविधता, विशालता, भव्यता और विकासोन्मुखता की ओर भारतीय ज्ञानपीठ के संस्थापकों—स्व० श्री शान्तिप्रसादजी और उनकी सहधर्मिणी स्व० श्रीमती रमा जैन का ध्यान सदा आकृष्ट रहा है। यही कारण है कि भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा 'जैन कला और स्थापत्य' शीर्षक से हिन्दी तथा अंग्रेजी में तीन-तीन खण्ड प्रकाशित हुए हैं जिनका अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर समादर हुआ है।

इस पुस्तक में हम अत्यन्त सीमित संख्या में चित्र दे पाये हैं। इनके लिए हम भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण के प्रति विशेष रूप से कृतज्ञ हैं। परिच्छद के लिए चित्र श्री हरिश्चन्द्र जैन से साभार प्राप्त हुआ।

ऐसे कठिन लेखन के निर्वाह में तथ्यों की जो नयी धरती गोड़नी पड़ी है, उसमें हाथ चूक जाना या असावधानी के कारण विपर्यय हो जाना सम्भव है। उदारचेता विद्वान क्षमा करेंगे और मार्ग-दर्शन देंगे।

निर्वाण महोत्सव पर 'वर्धमान रूपायन' के शैली-शिल्प की सर्जिका सहधर्मिणी कुन्था जैन का उल्लेख करना वैसा ही है जैसे अपने हस्ताक्षर करना। मूर्ति प्रतिष्ठापना के सहस्राब्दि महोत्सव पर यह श्रद्धा-सुमन सम्भव हो पाया, यह हम दम्पती का सौभाग्य है।

क्षमापर्व
7 सितम्बर, 1979

लक्ष्मीचन्द्र जैन

अनुक्रम

चित्र-सूची

खण्ड : एक

मानव-सभ्यता के आदिकालीन चरण

1

कुलकरों की भोगभूमि से तीर्थंकर आदिनाथ की कर्मभूमि तक

अनुपम है कथा भगवान बाहुबली की जो इस कृति के नायक हैं, और जो प्रथम तीर्थंकर भगवान आदिनाथ के पुत्र थे। आदिनाथ को ऋषभदेव के नाम से वेदों और पुराणों में भी स्मरण किया गया है। इन्हीं आदिनाथ भगवान को कहा गया है महादेव, अर्हत् और रुद्र। ऋग्वेद का सूक्त है :

त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति
महोदेवो मर्त्यान् आविवेश···(4, 58, 3)

इसका अभिप्राय इस प्रकार से स्पष्ट किया गया है : 'त्रिधा बद्धः' तीन प्रकार से आबद्ध हैं ऋषभदेव—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की साधना से; 'रोरवीति···'उन्होंने ऊँचे स्वर में धर्म की घोषणा की और वह महान् देव के रूप में मनुष्यों में प्रकट हुए।

भगवान आदिनाथ कब हुए, शताब्दियों के इतिहास का आलोक वहाँ तक नहीं पहुँच पाया है। किन्तु प्राचीनतम प्रमाण यह कहते हैं कि मनुष्य की सामाजिक व्यवस्था के आदिकाल में भगवान ऋषभ हुए। इसीलिए वह आदिनाथ कहलाये। उनके आगमन से पहले मनुष्य ने कबीलों में या कुलों में रहना सीख लिया था। इन कबीलों के नेता 'कुलकरों' ने समाज को निर्भय बनाने, बदलती हुई परिस्थितियों में अपनी रक्षा करने का प्रारम्भिक ज्ञान दे दिया था।

लेकिन कुलकरों की परम्परा से पहले मानव-समाज जिस अवस्था में रहता था, पुरानी पोथियों में उसे 'भोगभूमि' कहा गया है। मनुष्यों की उत्पत्ति जोड़ों में होती थी। एक बालक और एक बालिका एक साथ उत्पन्न होते और एक साथ साहचर्य के रूप में जीवन-लीला समाप्त करते थे। पृथ्वी पर उगे वृक्षों से वे अपनी आवश्यकताओं की सभी वस्तुएँ पाते थे। जो कल्पना मन में आती, धरती के वे पेड़ उसे पूरी कर देते। इसीलिए इन्हें 'कल्पवृक्ष' कहा गया है। वे कल्पवृक्ष दस प्रकार के होते थे—

: जो कल्पवृक्ष रहने के लिए आश्रय देता था वह 'गृहांग' कहलाता था।
: जो खाने के लिए आहार देता वह 'भोजनांग',
: जो आसन और पात्र आदि देता वह 'पात्रांग',
: पहनने के लिए जो वस्त्र देता वह 'वस्त्रांग',
: शृंगार के लिए भूषण प्रदान करनेवाला 'भूषणांग',
: जिससे सुगन्धित फूलों की मालाएँ प्राप्त होतीं वह 'माल्यांग',
: आनन्द के लिए सभी प्रकार के पेय देकर मस्त रखने वाला कल्पवृक्ष 'मद्यांग',
: मनचाहा संगीत सुनने की इच्छा जो पूरी करता वह 'तूर्यांग',
: अंधेरे स्थानों में उजाला देने वाला 'ज्योतिरंग',
: गर्मी और सर्दी की बाधाओं को दूर करने वाला कल्पवृक्ष कहलाता था 'तेजांग'।

इस प्रकार आदि मानव की इच्छाएँ सहज रूप से पूरी हो जाती थीं। भोग ही भोग की अवस्था थी उस भोगभूमि में। काम करने की आवश्यकता नहीं थी। प्रकृति के साथ एकरसता थी, अपनेपन का सम्बन्ध था।

किन्तु समय स्थिर नहीं रहता। काल या समय, चक्र की तरह घूमता रहता है। कालचक्र का विभाजन पहिए के आरों की तरह से होता है। चक्र के ऊपर उठते हुए आरे 'उत्सर्पिणी' कहलाते हैं और नीचे उतरते आरे 'अवसर्पिणी' कहलाते हैं। कालचक्र के छह आरे उत्सर्पिणी काल में सुख की अवस्था की ओर ऊँचे उठते हैं और फिर चक्र की दूसरी दिशा में धीरे-धीरे वही आरे अवसर्पिणी काल में सुख से दु ख और दु:ख से दु:खतर अवस्थाओं की ओर नीचे उतरते हैं। इस प्रकार काल-चक्र के प्रत्येक दौर में छह आरे ऊपर उठते हैं और छह आरे नीचे उतरते हैं।

मानव समाज जब भोगभूमि का संपूर्ण सुख पूरी तन्मयता के साथ भोग रहा था, सुख-ही-सुख की उस अवस्था को 'सुषमा-सुषमा' कहा गया है। इसी चरम सुख की अवस्था के बाद कालचक्र के आरों का उतार आरम्भ होता है। सुषमा-सुषमा काल की अवस्था के बाद चक्र का पहला आरा घूमा तो दूसरा आरा 'सुषमा' सामने आया। भोगभूमि का सुख अब दोहरा नहीं रहा, इकहरा हो गया। इसके बाद 'सुषमा-दुषमा' तीसरे आरे के उतार की स्थिति है। सुख के साथ दु:ख की आशंका हो चली। इतना ही नहीं, इस युग के मानव-समाज के समक्ष प्रकृति के नित नये परिवर्तनों के कारण कुछ प्रश्न-चिह्न उभरने लगे।

यह वह काल था जब कल्पवृक्षों में फल कम होने लगे, रस सूखने लगा; इसलिए मनुष्यों का शरीर उतना पुष्ट नहीं रहा। उनके मन में लोभ आने लगा। अधिक पाने और संग्रह करने की इच्छा सबको सताने लगी। सामाजिक व्यवस्था की कोई रूप-रेखा अभी तक सामने नहीं थी।

कुलकरों की समाज-व्यवस्था

वह समय था जब मानव-समाज को ऐसे नेता की आवश्यकता हुई जो 'कुल' को संभाल सके। इन नेताओं को 'कुलकर' कहा गया है। ये ही मनस्वी नेता 'मनु' कहलाये। करोड़ों वर्षों के अन्तराल में, मन्वन्तरों में, होने वाले ऐसे चौदह कुलकर गिनाये गये हैं। मनुष्य के जीवन में जैसे-जैसे जो बाधाएँ आती गईं, उस युग के कुलकरों ने उन समस्याओं का समाधान किया। इन कुलकरों के जो नाम पुराणों में आते हैं वे उनके विशेष कृतित्व का बोध कराते हैं।

जब ज्योति देने वाले वृक्ष सूखने लगे और धरती पर प्रकाश कम होने लगा तो आकाश में स्थित सूरज और चाँद धीरे-धीरे प्रकट होने लगे। लोग भयभीत हुए। पहले कुलकर 'प्रतिश्रुत' ने इन भयभीत युगलों की बात सुनी, इनका रहस्य समझाया औरइ न्हें दिन और रात के भेद से परिचित कराया।

जब ज्योतिरंग वृक्षों का रहा-सहा प्रकाश भी जाता रहा तो तारों ने लोगों का ध्यान आकर्षित किया। तब दूसरे कुलकर 'सन्मति' ने तारों का ज्ञान कराया। इस प्रकार ज्योतिष का सामान्य ज्ञान प्रारम्भ हुआ। तीसरे कुलकर ने बताया कि वन के पशुओं में हिंसा उत्पन्न हो गयी है, इसलिए इन से किस प्रकार सावधान रहना चाहिए, किस प्रकार अपनी रक्षा करनी चाहिए। वह 'क्षेमंकर' कहलाये। कल्पवृक्षों की कमी के कारण जब मनुष्यों में झगड़ा होने लगा तो अगले कुलकर 'सीमकर' ने कल्पवृक्षों का सीमांकन कर दिया। बाद के कुलकर 'सीमंधर' द्वारा भूमि की सीमा नियत की गयी; 'विमलवाहन' ने पशुओं पर शासन करने की कला सिखायी। यह सात कुलकरों की कृतित्व-कथा है।

आठवें कुलकर के समय में एक नयी बात हुई। इससे पहले माता-पिता अपनी युगल-सन्तान को जन्म देते ही अपनी देह छोड़ देते थे। वह नियम भंग हो गया। जीवित माता-पिता ने सन्तान को आँखों से देखा तो भयभीत हुए। तब 'चक्षुष्मान्' कुलकर ने सन्तान को स्नेह से देखने और पालने-पोसने का भाव उत्पन्न किया। अगले-अगले कुलकरों ने सन्तान को नामों से पहचानने की पद्धति बतायी, रोती सन्तान को प्यार से चुप कराने की विधि बतायी। सन्तान का मुख देखकर, हर्षित होकर, कुछ समय बाद ही माता-पिता का निधन हो जाने लगा। यह समय नौवें, दसवें और ग्यारहवें कुलकर का था जिनके क्रमशः नाम हैं : यशस्वान् अभिचन्द्र और चन्द्राभ।

काल-चक्र तो घूमता ही रहता है। धरती और आकाश में परिवर्तन आये। धूप और छाया के खेल शुरू हुए। बारहवें कुलकर 'मरुदेव' ने ठण्डी हवाओं से बचने का उपाय, मेघ और विद्युत से रक्षा, नदी पार करने की विधा तथा पहाड़ों पर पहुँचने के उपाय बताये। तेरहवें कुलकर के काल में उत्पत्ति के समय सन्तान

झिल्ली में लिपटी दिखाई देने लगी। मनुष्य के लिए यह नयी समस्या थी। तब तत्कालीन कुलकर 'प्रसेनजित्' ने प्रसा (झिल्ली) को शुद्ध करने की विधि बतायी।

अन्त में उत्पन्न हुए चौदहवें कुलकर 'नाभिराज'। इन्होंने सन्तान-उत्पत्ति के समय उस के नाभि-नाल को काटने की विधि बतायी। यही नाभिराज थे भगवान ऋषभ के पिता।

भोगभूमि का काल प्राय: समाप्त हो गया। कल्पवृक्ष भी बिल्कुल समाप्त हो गये। किन्तु नये-नये प्रकार के पेड़-पौधे, पशु-पक्षी उत्पन्न होने लगे। तब नाभिराज ने प्रजा को आश्वस्त करते हुए इन सामान्य पेड़-पौधों से जीवन-यापन करने की उन्हें विधि बतायी। साथ ही, विष-वृक्ष और औषधि-वृक्षों में अन्तर बताया तथा उनकी हेयोपादेयता की शिक्षा दी। वह नाभिराज कुलकर ही थे जिन्होंने सर्वप्रथम गीली मिट्टी से थाली आदि पात्र बनाने की विधि तत्कालीन समाज को बतलायी।

इस प्रकार सृष्टि के भोग-युग के अन्त और कर्मयुग के प्रारम्भ की इस सन्धि-वेला में नाभिराज ने मानव-समाज में कर्मभूमि के उपयुक्त व्यवस्था का सूत्रपात किया।

अनुशासन भंग करने वालों के लिए दण्ड-विधान की व्यवस्था कुलकरों के समय मे इस प्रकार रही कि पहले पाँच कुलकर केवल 'हा !' कह कर नियमभंग करने वालों को दण्डित करते थे—'खेद है कि तूने ऐसा किया।' अगले पाँच कुलकरों के समय में अपराध करने वाले को केवल यह कहकर दण्ड दिया जाता था—'मा' अर्थात् 'अब मत करना'। फिर अगले चार कुलकरो के समय में जिस कठोरतम दण्ड का आविष्कार हुआ, वह था—'धिक्'—धिक्कार है तुझ पर।

ये सब कुलकर ज्ञानी और कुशल व्यक्ति थे। समाज को स्थिर करने, उसे निर्भय बनाने, परस्पर की कलह को मिटाने, दण्ड-विधान और शासन-व्यवस्था चलाने के कारण इनके नेतृत्व को मान मिला।

आदियुग के मानव की इस स्थिति का, कुलकरों की परम्परा का, संकेत आज इतिहास की पुस्तको में भी स्वीकृत है। 'भारत का इतिहास' भाग-1 में इतिहास-वेत्ता डा० रोमिला थापर ने लिखा है :

"विश्व की आदिम मानव-व्यवस्था का एक ऐसा युग था जब पुरुषों और स्त्रियों को किसी वस्तु का अभाव नही था, कोई इच्छा अपूर्ण नहीं रहती थी। उन्हें सब साधन स्वयं प्राप्त थे। धीरे-धीरे अवनति का काल आता गया। मनुष्यों में आवश्यकताओं, अभावों का उदय हुआ। कुटुम्ब की धारणा ने वैयक्तिक पदार्थों के संग्रह को उत्प्रेरित किया। इस कारण विवाद और संघर्ष प्रारम्भ हुए, और तब नियम तथा विधान की व्यवस्था की आवश्यकता हुई। अत: निर्णय किया गया कि एक व्यक्ति के हाथ मे शासन और कुलों की व्यवस्था दी जाये जो न्याय और

निर्णय का दायित्व लें।"

आदि तीर्थंकर ऋषभदेव

भोगभूमि की व्यवस्था समाप्त हो चुकी थी और कर्मभूमि का प्रारम्भ हो चुका था। पुरुष और स्त्री अलग-अलग उत्पन्न होते, और अलग-अलग अपना जीवन-यापन करने के उपरान्त मृत्यु को प्राप्त होते। राजतन्त्र ने भी नया रूप ले लिया था। चौदहवें कुलकर 'राजा' नाभिराय के बाद समाज-व्यवस्था और शासन-तन्त्र को विकास की मंजिलों तक पहुँचाने का दायित्व उनके एकमात्र पुत्र ऋषभदेव ने लिया। अयोध्या उनकी राजधानी थी। उनकी दो रानियाँ थीं—यशस्वती और सुनन्दा। यशस्वती से भरत आदि सौ पुत्र और एक पुत्री—ब्राह्मी—उत्पन्न हुई। भरत इनमें सबसे ज्येष्ठ थे। हमारे देश का नाम भारतवर्ष इन्हीं ऋषभपुत्र भरत के नाम पर निर्धारित है। इस संबंध में शिवपुराण और श्रीमद्भागवत में भी उल्लेख मिलता है :

> नाभेः पुत्रश्च ऋषभः ऋषभाद् भरतोऽभवत् ।
> तस्य नाम्ना त्विदं वर्षं भारतं चेति कीर्त्यते ॥
>
> —शिवपुराण, अध्याय 37/57

> येषां खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठः श्रेष्ठगुण आसीत्
> येनेदं वर्षं भारतमिति व्यपदिशन्ति ।
>
> —श्रीमद्भागवत, पंचम स्कन्ध, अध्याय 4/9

ऋषभदेव की दूसरी रानी सुनन्दा की कोख से एक पुत्र बाहुबली,' और एक कन्या 'सुन्दरी', ने जन्म लिया।

सामाजिक संदर्भ में आजीविका के क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाकर ऋषभदेव मानवजाति के महान् नेता बने। कल्पवृक्ष तो नष्ट हो ही चुके थे, स्वतः उत्पन्न होने वाले धान्य भी जब दुर्लभ हो गये तो प्रजा व्याकुल हो उठी।

"महाराज, हम नाश के कगार पर खड़े हैं। हमारे सामने प्राणों का संकट उपस्थित है। हम भूखे हैं। हम क्या खायें ?" प्रजा ने सामूहिक प्रार्थना की।

"तुम्हारी समस्या का समाधान मैंने सोच लिया है," ऋषभदेव बोले। "देखो, यह पृथ्वी विश्वंभरा है। सारे विश्व को पाल सकती है। यह अन्नपूर्णा है। मैं बताता हूँ कि 'बीज' क्या होता है और धरती की परत को तीक्ष्ण नोक वाले फलके से खींचकर, 'कृष' करके, बीज किस तरह बोया जाता है। यही 'कृषि' कहलाती है। अन्न इसी से उत्पन्न किया जाता है।" कृषि की शिक्षा देकर ऋषभदेव ने क्षुधा के भयंकर रोग का उपचार किया।

और फिर, आत्मरक्षा के लिए अस्त्र-शस्त्र चलाने की विद्या उन्होंने सिखायी। वस्तुओं के लेन-देन की वणिज पद्धति बतायी। अनेक कलाओं की और साहित्य-

रचना की शिक्षा देकर ऋषभदेव ने मनुष्य के संस्कारों को उन्नत किया, संस्कृति की नींव डाली। व्याकरण के नियम, छन्द और काव्य रचने की विधि, गायन, नृत्य, नाट्य-शिल्प, ढोल आदि बाजे बजाने की कला, सेना-संचालन, व्यूह रचने की प्रक्रिया, नगर और भवन की रचना, नाप-तोल की विधि आदि 72 कलाएँ आदिनाथ ऋषभदेव ने अपने बड़े पुत्र भरत को सिखायीं। छोटे पुत्र बाहुबली को विशेष रूप से स्त्री-पुरुषों और पशु-पक्षियों के गुणों की पहचान, शुभ-अशुभ समय का ज्ञान, गणित और ज्योतिष की विद्या में निपुण किया। अपनी पुत्री ब्राह्मी के लिए लिपि का आविष्कार किया। कहते हैं, इसीलिए वह ब्राह्मी लिपि कहलायी। पुत्री सुन्दरी को अंक विद्या सिखायी, उसे स्त्रियों की 64 कलाओं में निपुण बनाया। तभी से यह सब ज्ञान, ये सब कलाएँ और ये सब शिल्प-विद्याएँ मानव-समाज को उत्तराधिकार मे मिली हुई हैं।

असि (युद्ध), मसि (लेखन), कृषि (खेती), वाणिज्य (व्यापार), विद्या (शास्त्ररचना, नृत्य-गायन आदि) और शिल्प (हस्तकला, चित्रांकन आदि) आजीविका के लिए उपयोगी इन छह कर्मों की शिक्षा देने वाले; समाज, राज्य और संसार की व्यवस्था का रूप निर्धारित करने वाले ऋषभदेव, योगविद्या के भी आदि-प्रणेता थे। संयम, तप, त्याग एवं ध्यान की एकाग्रता से किस प्रकार अलौकिक शक्तियों का विकास होता है, मन की राग-द्वेष की प्रवृत्तियों से किस प्रकार 'कर्मों' का बन्ध होता है और किस प्रकार संयम द्वारा, राग-द्वेष के त्याग द्वारा आत्मा कर्मबन्ध से मुक्त होकर मोक्ष का अविनश्वर सुख प्राप्त करती है, इस सबका उन्होंने प्रत्यक्ष अनुभव किया और जन्म-मरण के सागर को पार करने का 'तीर्थ' निर्माण किया। संसार की क्षण-भंगुरता की अनुभूति उन्हें किस प्रकार वैराग्य के पथ पर ले गयी थी, यह घटना अत्यन्त बोध-कारक है।

एक दिन इन्द्र द्वारा लायी गई स्वर्ग की एक अप्रतिम रूपसी अप्सरा नीलांजना, महाराज ऋषभदेव की सभा में नृत्यकला का प्रदर्शन कर रही थी। संगीत के आरोह-अवरोह पर, नूपुरों की मधुर ध्वनि के साथ मनोहारी लयों पर थिरकते पग; भावों के अनुसार भंगिमाओं का मनमोहक प्रदर्शन, नृत्य की लुभावनी मुद्राओं पर मंत्रमुग्ध होकर सारी सभा रूप, रस और कला की लहरियों पर तैर रही थी कि अचानक कुछ ऐसा घटा कि नीलांजना की नृत्यमग्न काया, छाया की तरह विलीन हो गयी। नृत्य की चमत्कारी भंगिमा और स्वरों की तेज लहरियों पर थिरकती नृत्यांगना नृत्य की गति में एकाकार हो गई है। दर्शक यह नहीं सोच पाये कि तरंगों की द्रुतता में नीलांजना नहीं है। केवल ऋषभदेव यह जान गये कि नृत्यसभा को अभंग रखने के लिए इन्द्र ने नीलांजना की एक दूसरी प्रतिच्छवि नृत्यभंगिमा के उस सहस्रांश क्षण के पदचाप पर लाकर खड़ी कर दी है जहाँ से वह पहली अप्सरामूर्ति विलीन हुई थी। राजा ऋषभ ने सोचा, "बस यही है शरीर का धर्म ? यही है



1. अकोटा से प्राप्त ऋषभदेव की कांस्यमूर्ति का शिरोभाग

[बड़ौदा संग्रहालय]

जीवन का यथार्थ ? चरम आनन्द के क्षण में कंचन-सी काया की यह क्षणभंगुरता ? इस प्रकार आयु पूरी होने का क्षण जब अचानक आ जाता है तो जीवन में फिर उस तपस्या, त्याग, साधना और आत्मध्यान का अवसर कहाँ रह जाता है जो निर्वाण का अनन्त और अमर सुख देता है ?"

महाराज ऋषभदेव सिंहासन से उठे तो राज्य-त्याग का संकल्प कर चुके थे। फिर अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को राज्य-भार संभलवाया, बाहुबली को युवराज के रूप में पोदनपुर का राज्य दिया, अन्य 99 पुत्रों में राज्य की सीमाएँ बाँट दीं और स्वयं सब कुछ छोड़कर, वस्त्र और आभूषण त्यागकर, निर्ग्रन्थ होकर, वन में संयम और तपस्या की साधना के लिए निकल पड़े।

तीर्थंकर ऋषभदेव ने कठिन तप के द्वारा आत्मिक बल प्राप्त करने के लिए कई-कई महीने उपवास किये, निराहार रहे। गृह-त्याग के बाद और स्वयं प्रव्रजित होने के उपरान्त एक वर्ष तक वे भोजन नहीं कर पाये क्योंकि जिस प्रकार का, जिस विधि से, आहार प्राप्त होने पर उसे ग्रहण करने का संकल्प वह ले चुके थे वह पूरा नहीं हो पा रहा था। मुनि ऋषभ प्रतिदिन आहार के लिए मौन भाव से निकलते और निराहार लौट जाते। लोगों ने विविध प्रकार का भोजन उनके सामने प्रस्तुत किया, किन्तु उनका संकल्प किया हुआ आहार नहीं मिला। इस प्रकार एक वर्ष तक उनके निराहार रहने के उपरान्त इक्ष्वाकुवंश के राजकुमार श्रेयांस, पूर्वभव के स्मरण द्वारा, जब गन्ने का रस लेकर खड़े हुए और आहार के लिए ऋषभदेव का आवाहन किया, उन्हें पड़गाहा, तब इच्छित विधि पूरी होने पर उन्होंने आहार लिया। इस मधुर पेय इक्षुरस के लेने की पुण्यतिथि 'अक्षय तृतीया' के नाम से प्रचलित है। इस विकट तपस्या का लक्ष्य था दृढ़व्रती, आत्मजयी बनकर वह ज्ञान प्राप्त करना जिससे आत्मा, परमात्मा, जीवन और जगत् के सारे रहस्य खुल जाते हैं, जिससे भूत, भविष्य और वर्तमान की सभी अवस्थाओं का, सभी पदार्थों का, एक साथ वह पूर्णज्ञान प्राप्त हो जाता है, जिसे 'केवलज्ञान' कहते हैं। उन्होंने अनुभव किया कि संयम और योग की साधना से कर्मों के बन्ध कटते हैं। अहिंसा के सिद्धान्त का पालन करने से संसार के सभी प्राणियों की रक्षा होती है, समाज का कल्याण होता है। त्याग और तपस्या में रत होकर आत्मध्यान करने से प्रत्येक मनुष्य को निर्वाण की वह अवस्था प्राप्त हो सकती है जहाँ आत्मा शुद्ध रूप में अनन्त सुख और अनन्त ज्ञान की दशा में अजर-अमर हो जाती है।

ध्यान, तपस्या और योग-साधना के अन्तिम चरण में भगवान् आदिनाथ कैलाश पर्वत पर विराजमान थे। वहाँ से ही उन्होंने समस्त कर्मों का क्षय करके मोक्ष प्राप्त किया—जीवन और मरण की परम्परा को सदा के लिए काट दिया। संसार-सागर को पार करके उन्होंने दूसरों को भी अध्यात्म-साधना और मोक्ष-प्राप्ति का मार्ग दिखा दिया। इसीलिए तो वह आदि तीर्थंकर कहलाए।

केवलज्ञान की प्राप्ति के उपरान्त, अनुभूत धर्म का उपदेश देने के लिए तीर्थंकर ऋषभदेव दूर-दूर तक विहार करने लगे। उनका धर्मचक्र प्रवर्तित हुआ।

धर्मचक्र को रूपाकार देने की कथा ऋषभ-पुत्र बाहुबली के जीवन के साथ सम्बद्ध है। भारतीय पुरातत्त्व के इतिहासकार जॉन मार्शल ने अपनी पुस्तक—'गाइड टु तक्षशिला' में लिखा है :

"धर्म का उपदेश देते, विहार करते हुए भगवान ऋषभदेव जब तक्षशिला (पोदनपुर) पहुँचे, उस समय वहाँ भगवान के छोटे पुत्र बाहुबली राज्य करते थे। भगवान ऋषभदेव संध्या समय तक्षशिला पहुँचे और उसी समय ध्यान में लीन हो गये। बाहुबली को उनके आगमन की सूचना देर से मिली। प्रातःकाल जब बाहुबली अपने राजसी दलबल से सुसज्जित हो भगवान की वन्दना के लिए वहाँ पहुँचे तो देखा कि वीतराग, मोहमुक्त भगवान वहाँ नहीं थे। बहुत पश्चात्ताप हुआ बाहुबली को। तीर्थंकर भगवान के पधारने की याद में, उनके धर्म के उपकारी 'तीर्थ' को प्रतीक रूप में प्रतिष्ठित करने के विचार से, बाहुबली ने 'धर्मचक्र' पहली बार तक्षशिला में स्थापित किया।"

यह है चरित उन तीर्थंकर आदिनाथ का जो पुरुषार्थ के आदिजनक हैं, जो प्रथम तीर्थंकर जिनेश हैं, जिन्होंने पहली बार सामाजिक व्यवस्था के विधि-विधान निर्धारित किये, जो धर्म के संचालक हैं, और जो इस युग में अवतरित होकर संसार का कल्याण करने वाले परम गुरु हैं।

आदि पुरुष, आदीश जिन, आदि सु-विधि करतार।
धरम-धुरन्धर, परमगुरु, नमो आदि-अवतार॥



2

भरत चक्रवर्ती का साम्राज्य-विस्तार

अहं के अणु का विस्फोट

तीर्थंकर आदिनाथ जब राज्य-त्यागकर प्रव्रज्या की ओर उन्मुख हुए थे, तभी उन्होंने भरत को राजधानी अयोध्या का राज्य देकर, बाहुबली को युवराज घोषित कर दिया था और उन्हें पोदनपुर का राजा बना दिया था। भरत के शेष भाईयों को भी अलग-अलग राज्यों का स्वामित्व प्राप्त हुआ था।

एक दिन राजर्षि भरत राज्य-सभा में बैठे हुए थे कि एक के बाद एक, तीन संदेहवाहक आये और हृदय को आनन्दित करने वाले समाचार देते गये। धर्माधिकारी पुरुष ने आकर समाचार दिया कि भरत के पिता, आदिनाथ, को केवलज्ञान प्राप्त हो गया है। यह उनकी साधना और तपस्या की सिद्धि थी। 'भगवान् आदिनाथ अब जन-जन को धर्मोपदेश देने के लिए विश्व में विहार करेंगे, उनके धर्मचक्र का प्रवर्तन होगा' यह विचारकर भरत प्रमुदित हुए। मन ही मन उन्होंने भगवान को प्रणाम किया। तभी राज-प्रासाद का प्रमुख संदेशवाहक आ उपस्थित हुआ। उल्लास के कारण उसकी वाणी मानो सँभाले में नहीं आ रही थी। उसने समाचार दिया: "महाराज, आपको पुत्र-रत्न उत्पन्न हुआ है।" सन्तान का मुख देखने के लिए भरत अधीर हो गये। पितृत्व की साध पूरी हो गई। राज्य-लक्ष्मी का वरण करने वाले नन्हें-से राजकुमार के प्रादुर्भाव ने प्रजा के सामने राग-रंग का अद्भुत अवसर उपस्थित कर दिया। समाचार के आनन्द को महाराज भरत अभी आत्मसात् कर ही रहे थे कि आयुधशाला का अधिपति हर्षोन्मत्त-सा आया, यह निवेदन करने कि आयुधशाला में चक्ररत्न प्रकट हुआ है। यह भरत के चक्रवर्तित्व का चिह्न था। एक क्षण में ही भरत की कल्पना में अपने राज्य की सीमाएँ चारों-दिशाओं को सम्पूर्ण रूप से व्याप्त करती दिखाई देने लगीं।

पिता का केवलज्ञान 'धर्म' पुरुषार्थ की सिद्धि थी। चक्ररत्न 'अर्थ' पुरुषार्थ की

उपलब्धि का द्योतक था, और पुत्र की उत्पत्ति 'काम' पुरुषार्थ की अभिव्यक्ति थी।

तीनों ही घटनाएँ महत्त्वपूर्ण थीं। भरत के मन में कुछ क्षणों के लिए संकल्प-विकल्प हुआ कि पहले किस सौभाग्य की अभ्यर्थना करें। सोचा, तो यही निर्णय किया कि सबसे पहले भगवान आदिनाथ के समवसरण में जाकर केवलज्ञानी प्रभु की पूजा की जाये जो पूज्य पिता भी हैं। 'धर्म' जो चौथे और सर्वोच्च पुरुषार्थ 'मोक्ष' का साधक है, वही सर्वप्रथम वन्दनीय है। भरत ने जाकर तीर्थंकर भगवान की अर्चना की, उनसे धर्मोपदेश सुना।

उसके उपरान्त वह राजप्रासाद में गये। प्रसूति की शुचिता और शोभा से प्रसन्न-वदन अपनी वल्लभा स्त्रीरत्न सुभद्रा की गोद में खेलते पुत्र का मनोरम मुख देखकर भरत पुलकित हुए। नगरी पुत्रोत्सव की रंग-शाला बन गई।

तत्पश्चात् वह गये आयुधशाला में। वहाँ दैवी-प्रभा से दीप्तमान् चक्ररत्न की पूजा की—पुण्य-प्रताप का वरदान जो विश्व की विजय-यात्रा का सन्देश-वाहक था और जिसकी सार्थकता को भरत अपने पराक्रम से प्रमाणित करने के लिए उद्यत थे। चक्रवर्तित्व का वह प्रेरणा-प्रतीक पूजनीय था।

धीरे-धीरे आयुधशाला में अन्य रत्न भी दृष्टिगोचर हो गये—छत्र, दण्ड, असि आदि।

जिस प्रकार तीर्थंकर को जन्म से ही तीर्थंकरत्व प्राप्त होता है, किन्तु उसे त्याग, संयम, साधना और तप से कर्मबन्ध का नाश करना पड़ता है क्योंकि मोक्ष स्वयं-सिद्ध उपलब्धि नहीं है, उसी प्रकार चक्ररत्न की प्राप्तिमात्र से ही चक्रवर्तित्व प्रतिष्ठापित नही हो जाता। उसे अपने प्रभाव, पराक्रम और दिग्विजय के प्रयास द्वारा सार्थक करना होता है।

संसार के सभी नरेशों को अपनी अधीनता में करने के लिए और विश्व की धरा एवं सम्पदा पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए भरत ने अपनी असंख्य सेना, राजाओं के दल-बल और लाखों-करोड़ो अश्वों, हाथियों, रथो और वाहनों के साथ दिग्विजय के लिए प्रस्थान किया। चक्ररत्न आगे-आगे चल रहा था कि चक्रवर्ती की विजय-कामना के प्रति किसी को भ्रम न रहे। दण्डरत्न भी साथ-साथ था कि यदि कोई विरोध करने का साहस करे तो विनाश का प्रतीक वह दण्ड उसे परिणाम के प्रति आतंकित रखे।

नियम था कि जहाँ-जहाँ से चक्र निकले वहाँ-वहाँ के अधिपति और नरेश चक्रवर्ती को नमस्कार करें और उसकी शरण में आते जायें। इन राजाओं के नगर, ग्राम और भूखण्ड चक्रवर्ती के साम्राज्य के अंग बनते चले जायें। चक्र को जो रोके, भरत की सेना से युद्ध करे और परिणाम भोगे।

जहाँ जहाँ भरत का चक्र घूमा, धरा स्वयमेव विजित होती गयी। विरोधी पराभूत होते चले गये। पूर्व में अनेक वन-प्रान्तरों को पार करने के उपरान्त गंगा

नदी तक सैन्यदल पहुँचा। उपसमुद्र, समुद्रतट और लवण-समुद्र को पार कर फिर स्थल की ओर चक्र आया। विन्ध्यगिरि से विजयार्ध पर्वत तक सभी दिशाओं को दिग्विजय के तूर्यनाद से गुंजाता सैन्य-दल आगे बढ़ा जा रहा था। चक्रवर्ती के पराक्रम की शृंखला में अनेक-अनेक विजयों की कड़ी जुड़ती चली गयी, जो क्रमशः विश्व की परिधि को घेरती जा रही थी।

दिग्विजय के अन्तिम चरण में विजयार्ध पर्वत के वृषभाचल शिखर की ओर चक्र बढ़ा तो महाराज भरत के मन में विचित्र आकांक्षा जगी कि पर्वत के शिखर को घेर कर खड़ी हुई किनारे की शिलाओं पर वह अपने दिग्विजय के पराक्रम की प्रशस्ति अपने हाथ से उत्कीर्ण करें। भरत ने सोचा—"लक्ष्मी चंचल है, कालान्तर में कौन इसे देखेगा। किन्तु कीर्ति और यश चिरस्थायी हैं। यदि इन अनन्तकाल तक अक्षय रहने वाली शिलाओं के वक्ष पर मैं अपनी कीर्ति उत्कीर्ण कर दूं तो मेरे अद्वितीय शौर्य की यह गाथा अमर हो जायेगी।" अनिर्वचनीय उत्साह से भरे भरत शिला के एक भाग तक जब पहुँचे तो देखा वहाँ कुछ लिखा हुआ है। वह किसी नरेश की प्रशस्ति थी—चक्रवर्ती नरेश की। भरत को आश्चर्य तो हुआ किन्तु सोचा कि अतीत में कोई राजा हुआ होगा जिसे चक्रवर्ती मान लिया गया होगा। शिला का विस्तार बहुत बड़ा था। सोचा—'आगे के किसी भाग में प्रशस्ति लिख दूंगा'। भरत आगे बढ़े। देखा, कुछ लिखा हुआ है—फिर किसी चक्रवर्ती का नाम। भरत तीव्र व्याकुलता की स्थिति में आगे बढ़ते गये किन्तु कहीं कोई शिला-पट ऐसा नहीं मिला जिस पर किसी चक्रवर्ती की प्रशस्ति न लिखी हो। भरत हताश हो गये। किन्तु, हारे नहीं। अपनी प्रशस्ति तो लिखनी ही थी, सो इस परम प्रतापी चक्रवर्ती ने किसी एक पूर्ववर्ती नरेश की प्रशस्ति को वज्रखण्ड से घिस-घिसकर मिटा दिया, शिला-खण्ड को चिकना कर दिया और हीरे की छैनी से अक्षर उकेरने प्रारम्भ किये। मन में तब लांछना की यह गूंज नहीं उठी होगी?—"देख तो रहा है तू भरत, कि इस धरा पर तुझसे पहले कितने असंख्यात चक्रवर्ती हो गये हैं। इनमें से प्रत्येक ने अपने अहं को तुष्ट करने के लिए अपनी प्रशस्ति यहाँ उत्कीर्ण की है। उनको तो लिखने का स्थान भी मिला है, किन्तु तू ऐसा कि दूसरे की प्रशस्ति को मिटाकर अपने अहंकार के नश्वर अक्षर उकेर रहा है!"

निःसन्देह भरत ने प्रशस्ति में मात्र वही लिखा—जो यथार्थ था। अनगिनत महान् यशस्वी यथार्थों के समुद्र के बीच में कीर्ति की छोटी-सी बूंद:

"स्वस्ति श्री। इक्ष्वाकु वंश रूपी आकाश का चन्द्रमा और चारों दिशाओं की पृथ्वी का स्वामी मैं भरत हूँ। मैं अपनी माता के सौ पुत्रों में से एक बड़ा पुत्र हूँ। श्रीमान् हूँ। मैंने समस्त विद्याधर, देव और भूमिगोचरी राजाओं को वशीभूत किया है। प्रजापति भगवान् वृषभदेव का पुत्र हूँ, मनु हूँ, मान्य हूँ, शूरवीर हूँ, पवित्र हूँ, उत्कृष्ट बुद्धि का धारक हूँ, चरमशरीरी हूँ, वीर हूँ, इस

युग के चक्रवर्तियों में प्रथम हूँ। इसके अतिरिक्त मुझ विजयी ने दिग्विजय के समय समस्त पृथ्वीमण्डल को अपने पराक्रम के घेरे में बाँध लिया है। जिसके जल और थल में चलने वाले अठारह करोड़ घोड़े हैं; जिसकी विजयी सेना में चौरासी लाख मदोन्मत्त हाथी हैं; जिसकी दिग्विजय के समय सेना की धूसर धूल ने चारों ओर उठी हुई समस्त दिशाओं और आकाश को आच्छादित कर दिया है; चन्द्रमा की कलाओं के समान जिसका निर्मल यश समस्त दिशाओं में व्याप्त है; जिसका कीर्तिगान कुलपर्वतों के मध्यभाग में बसे देवता बारंबार करते हैं; दिग्विजय के समय तीव्रगामी चक्र के पीछे-पीछे चलने से जिसकी श्रान्त सेनाओं ने हिमवान् पर्वत की तराई का उल्लंघन कर दिशाओं के अन्त भाग में विश्राम किया है; जो श्री नाभिराय का पौत्र है, श्री वृषभदेव का पुत्र है; जिसने छह खण्डों से सुशोभित इस समस्त पृथ्वी का पालन किया है; जो समस्त राजाओं को जीतनेवाला है—ऐसे मुझ भरत ने लक्ष्मी को नश्वर समझकर जगत् में फैलने वाली अपनी कीर्ति को इस पर्वत पर स्थापित किया है।"

भरत ने प्रशस्ति उकेरकर जब उसका वाचन किया तो उसे उसकी गरिमा पर सन्तोष हुआ। पुराणकार कहते हैं कि चक्रवर्ती के गौरव को मान देने के लिए देवताओं ने आकाश से पुष्प-वर्षा की।

दिग्विजय की सम्पूर्णता अब सामने थी। पृथ्वी की परिक्रमा समाप्ति पर थी। अयोध्या में प्रवेश करने से पहले भरत ने कैलाश पर्वत पर जाकर धर्मतीर्थ की महिमा से मण्डित परम वीतराग प्रभु आदिनाथ के दर्शन किये, उनकी उपासना की।

चारों दिशाओं में फैले संसार की दिग्विजय के उपरान्त भरत का विजय-चक्र, सफलता के गौरव से दीप्त, वापस अयोध्या की सीमा तक आ पहुँचा। नगरवासी उमड़ पड़े स्वागत के लिए। दुन्दुभियों की ध्वनि में शब्द खो गये। चक्ररत्न परकोटे को पार करना ही चाहता था कि अचानक रुक गया। 'कोई कारण नहीं कि चक्र रुके।' भरत ने बारबार सोचा—'चक्रवर्ती का चक्र तो रुकता ही नहीं, जब तक अवरोध सामने न हो।'

"मैं तो विश्व-विजय कर चुका, फिर चक्र को कुंठित करने की धृष्टता किस देव-दानव, मन्त्र-तन्त्र की है? चक्रवर्ती का चक्र तो रुकता नहीं, रुक ही नहीं सकता। फिर यह दुर्घटना क्यों?"

सरसराते बाण की तरह सेना में, कटक में, नगर में, जन-जन की जानकारी में, कानों-कान सूचना पहुँच चुकी थी कि भरत का चक्र रुद्ध हो गया। भयानक निस्तब्धता। मन्त्री भयभीत हुए। वह कुछ न बता पाये, तो नैमित्तिकों, ज्योतिषियों का आह्वान हुआ। निमित्तज्ञानी ने बताया :

"यह ठीक है कि संसार के नरेश और जल-थल के अपने-अपने क्षेत्र के स्वामी —मनुष्य तथा देव, सब झुकते चले आये हैं किन्तु महाराज भरत को अपने 99

भाईयों का और पोदनपुर में बैठे बाहुबली का ध्यान रहा ही नहीं क्योंकि वे तो सगे भाई हैं, भरत के चक्रवर्तित्व की प्रतिष्ठा के सहभागी। लेकिन नहीं, जब तक भाई अपने-अपने राज्यों को आपके साम्राज्य की अधीनता में विलीन नहीं कर देते, तब तक दिग्विजय पूरी नहीं होती।"

"ठीक तो है", भरत ने कहा। "इतनी बड़ी दिग्विजय के अवसर पर मुझे स्वयं ही अपने भाईयों को बुलाना चाहिये था। कोई बात नहीं, अब लिखे देता हूँ।"

दूत चक्रवर्ती का पत्र लेकर भाईयों के पास पहुँचे। 99 भाईयों ने निर्णय किया कि वह पराधीनता स्वीकार नहीं करेंगे। लेकिन युद्ध भी नहीं करेंगे। वे सब तत्काल तीर्थंकर आदिनाथ के समवसरण में पहुँचे और चरण-वन्दना करके निवेदन किया—"प्रभो! भरत हमें अपनी आज्ञा में बाँधकर हमसे प्रणाम करवाना चाहता है। वह आपके दिए हुए राज्य को अपने वश में करना चाहता है। हम प्रणाम करेंगे तो केवल आपको ही, अन्य को नहीं। भरत के मन में घोर अहंकार और लोभ उत्पन्न हो गया है।"

भगवान ने करुणा-पूर्ण वचन कहकर सान्त्वना दी : "भरत का पुण्य जब तक प्रबल है वह राज्य करेगा, साम्राज्य का विस्तार करेगा। तुम लोग अपने मन से क्रोध, मान, माया और लोभ का परित्याग करो। तुम्हारे मन में धर्मभाव जगा है। ईर्ष्या को छोड़ो!"

तदलं स्पर्द्धया, वध्वं यूयं धर्म-महातरोः।
दया-कुसुममम्लानि यत्तन्मुक्तिफलप्रदम्॥

—छोड़ दो स्पर्धा; उस धर्मरूपी महावृक्ष का आश्रय लो जिसमें दया के फूल खिलते हैं जो कभी म्लान नहीं होते; और जिससे मुक्ति का फल प्राप्त होता है।" धर्मोपदेश सुनकर समस्त 99 सहोदरों ने मुनिव्रत ग्रहण कर लिया।

उधर भरत का पत्र लेकर अश्वारोही नायक पोदनपुर पहुँचा। अनेक द्वारपालों को सूचना देते हुए, महाराज भरत के पत्र की राजमुद्रा दिखाते हुए उसने बाहुबली के सभागृह में प्रवेश किया। झुककर प्रणाम किया, भरत का पत्र दिया और विनम्र-भाव से बाहुबली की भाव-भंगिमा को देखता रहा। फिर बोला :

"मुझे कुछ मौखिक निवेदन करना है, प्रभु।"

"कहो, क्या कहना है?" बाहुबली ने कहा। साथ ही, पूछा—

"दिग्विजय की यात्रा से श्रम-श्रान्त मेरे अग्रज प्रसन्न तो हैं? बहुत दिनों बाद उन्होंने हमें याद किया। ठीक ही तो है, वह इतनी बड़ी पृथ्वी के स्वामी हैं। उन्हें बहुत लोगों की चिन्ता रहती है। उन्होंने समस्त दिशाएँ वश में कर ली हैं। समस्त राजाओं को जीत लिया है। अब तो कोई चिन्ता शेष नहीं रही है न?"

दूत बोला—"महिमामय, आपका प्रश्न बहुत सार्थक है। आप दूरदर्शी हैं। चक्रवर्ती महाराज ने आपको निमंत्रित किया है कि दिग्विजय पूर्णता को प्राप्त हो।

हम लोग तो स्वामी के अभिप्राय के अनुसार कहते हैं। चक्रवर्ती ने जो प्रिय और उचित आज्ञा दी है, मैं उसे निवेदन करने आया हूँ। उसे स्वीकार करने का आधार यही होना चाहिए कि उसके पीछे वार्ता भेजने वाले का गौरव मान्य है। शास्त्र का वचन है कि गुरुजन का आदेश किसी तर्क-वितर्क के बिना मान लेना चाहिये। भरत इक्ष्वाकुवंश के ज्येष्ठ पुरुष हैं, भगवान ऋषभदेव के पुत्र हैं, राजाओं में प्रथम हैं, आपके अग्रज हैं। उन्होंने देवों को भी वश में करके उनसे प्रणाम करवाया है।"

संदेश-वाहक नायक बहुत चतुर था। उसने बाहुबली के चेहरे पर उभरने वाले भाव की छाया देखी, और इस आशंका से कि कहीं वह कोई अप्रिय बात कहने का उपक्रम न करें, भरत के शौर्य को, उनकी शक्ति को, बखानना उचित समझा। उसने बात का क्रम बनाये रखते हुए कहा :

"भरत चक्रवर्ती की शूरवीरता की गाथा इस दिग्विजय के कारण अमर हो गई है। उन्होंने समुद्र में अपना अश्वरथ दौड़ा दिया। बारह योजन दूर तक जाने वाले उनके बाण ने महासागर में रहने वाले मागधदेव को कँपा दिया। विजयार्द्ध पर्वत के देव को जीतकर उससे अपनी स्तुति करवायी। म्लेच्छों का राजा विरोध करना चाहता था किन्तु भरत के सेनापति ने अपने ही बल से हराकर, उसका धन छीन कर, उसे दास बना लिया है। हे आयुष्मन्, विश्वमान्य महाराज भरत अपने चक्रवर्तित्व की प्रतिष्ठा आप तक पहुँचाकर आपको आशीर्वाद देते हुए यह आज्ञा कर रहे हैं कि समस्त द्वीप-समुद्रों तक फैला हुआ हमारा यह राज्य बिना हमारे भाई बाहुबली की उपस्थिति के शोभा नही दे रहा है। ऐश्वर्य वही सार्थक है जिसे भाई लोग साथ-साथ भोगें। इसलिए आप चलकर उन्हें प्रणाम करें।"

दूत बाहुबली के भावों के ज्वार को परख रहा था। अब अन्तिम तर्क शेष था जो अकाट्य होना चाहिए। दूत ने स्वर को गम्भीर बनाकर कहा :

"यदि कोई शत्रु प्रणाम न करे तो उससे दुख नहीं होता किन्तु यदि लघु भ्राता आकर प्रणाम न करे तो वह कहीं अधिक दुखदायी होता है। आप प्रणाम करके उनका सत्कार कीजिये। इससे आपकी सम्पदाएँ बढ़ेंगी। भरत महाराज का चक्र-रत्न साथ चलता है, उसका कोई उल्लंघन नहीं कर सकता। उनके विरुद्ध जाने का इसी कारण कोई साहस ही नही कर सकता। और, उनका दण्डरत्न विमुख नरेशों को दण्ड देता चलता है। देखिये, कितने मण्डलेश्वर राजा इस दण्ड के कारण खण्ड-खण्ड हो गये हैं। आप विलम्ब न करें। चलकर प्रणाम करें। भाईयों के मिलन से संसार पुलकित होगा।"

"रे मूर्ख", बाहुबली गरजे। "तू बोले ही चला जा रहा है, और तुझे स्वयं पता नहीं कि क्या अनर्गल कह रहा है? तू शान्ति और प्रेम की बात कर रहा है, या चक्र के प्रभाव की जो पराधीन बनाता है; या उस दण्डरत्न की, जिसे तू भय

और विनाश का साधन बता रहा है ? रे दुर्बुद्धि, क्या तू यह नहीं जानता कि चक्र तो कुम्हार भी चलाता है और वह भी दण्ड का सहारा लेकर ? तेरा स्वामी भी कुम्हार ही है क्या, जिसके पास चक्र भी है और दण्ड भी ? तूने अपने स्वामी को भिखमंगा बना दिया। वह मुझसे मेरी पृथ्वी की भिक्षा माँग रहा है। उधर तू यह भी कह रहा है कि यदि मैं आकर प्रणाम करूँ तो स्वामी से सम्पदा पाऊँगा। रे बुद्धिहीन, अपने मुँह से अपनी बड़ाई और दूसरों की हीनता ?"

दूत बाहुबली के इस आक्रोश को समझ रहा था। उसने निवेदन किया—"महाराज, आपकी अकृपा मैं नहीं चाहता, किन्तु जिनकी कृपा आपके हित में है उन अग्रज की ओर से ही मैं यह कह रहा हूँ।"

बाहुबली की भृकुटि में बल आ गया। बोले, "एक बात कहकर तू मानो घी को ताव दे रहा है, तो साथ ही दूसरी बात कह कर तू उसमें पानी डाल कर उसे शान्त करना चाहता है। तू क्या इतना भी नहीं जानता कि इससे घी अधिक खौलता है और छनछनाहट करता है ? बड़ा भाई नमस्कार करने योग्य है, यह मैं मानता हूँ। किन्तु जो भाई गर्दन पर तलवार रखकर प्रणाम करवाना चाहे, उसकी अधीनता कैसे सही जा सकती है ? बता तो—आदिब्रह्मा भगवान ऋषभदेव ने राजा की उपाधि किसे दी ?"

"वीरवर महाराज भरत को, और आपको भी !"

"ठीक" बाहुबली बोले, "किन्तु अब भरत राजराजा बनना चाहता है, वह भी मुझे नीचा दिखाकर ? व्यर्थ है यह। रे दूत, पूछ अपने स्वामी से कि जिस धरा-लक्ष्मी को पिता ने मुझे दिया, जो मेरी वल्लभा है, उसका अपहरण करके वह मानो भाई की स्त्री को हरना चाहता है ? उसे लज्जा नहीं आती ? समझ ले अच्छी तरह कि मुझे पराजित किये बिना वह मेरी पृथ्वी का भोग नहीं कर पायेगा।"

दूत ने अब अन्तिम परिणाम पर वार्तालाप को पहुँचाना उचित समझा, जैसा कि वह अपने स्वामी से संकेत लेकर आया था। उसने कहा, "तब तो महाराज, युद्धक्षेत्र में ही महाप्रतापी चक्रवर्ती भरत इस समस्या का समाधान आपके समक्ष प्रस्तुत करेंगे।"

"मूढ़मति, दूत ! भरत युद्धक्षेत्र को कसौटी बनाना चाहते हैं तो उसी पर मेरा और भरत का पराक्रम कसा जायेगा। जा, जाकर स्पष्ट कह दे।" बाहुबली के स्वर में गर्जना थी। क्षणभर रुककर बोले, "तेरे दुःसाहस को मैंने इसीलिए उपेक्षित किया कि तू दूत का कर्तव्य निभा रहा है।"

परिणाम यह कि दोनों भाइयों में ठन गई। युद्ध के नगाड़े बज उठे। दोनों ओर की सेनाओं ने युद्ध के लिए कूच कर दिया और आमने-सामने आ पहुँचीं। महानाश की आशंका से त्रस्त दोनों ओर के बुद्धिमान वयोवृद्ध मन्त्रियों ने मिलकर सलाह की। "दो भाइयों की आपसी बात है। इसमें तीसरे किसी का क्या ? युद्ध

क्यों हो ? सेनाएँ क्यों मरें-कटें ? दोनों समर्थ हैं, आपस में टकराकर निर्णय कर लें कौन अधिक बली है, कौन जीतता है।" युद्ध को सीमित करने का, सद्बुद्धि को क्रोध और आवेश पर विजय पाने का यह पहला अवसर था। उन्होंने भाइयों के सामने तर्क रखा :

"युद्ध में हजारों-लाखों सैनिक मरेंगे, एक-दूसरे को मारेंगे, देश उजड़ेगा तो क्या इससे इक्ष्वाकुवंश का, दोनों भाइयों का, नाम ऊँचा होगा ? अहिंसा धर्म के प्रतिष्ठापक भगवान आदिनाथ के होते हुए यह होगा ?" बात दोनों भाइयों को भी जँच गयी। दो महाबलियो के पारस्परिक युद्ध के अभूतपूर्व दृश्य की कल्पना रोमांचक हो उठी।

दोनो पक्षों के राजा पंक्ति बांधकर आमने-सामने द्वन्द्व-युद्ध की रंगशाला में जाकर बैठ गये। दोनों भाइयों ने अपने बल, अपनी सामर्थ्य, युद्ध-विद्या के कौशल और छिपी हुई शक्तियों को प्रयोग में लाने का निर्णय कर लिया है। एक प्रकार से अहिंसक युद्ध का क्रम निश्चित हो गया। पहले दृष्टि-युद्ध, फिर जल-युद्ध और अन्त में मल्ल-युद्ध। और, दिग्गजो की टक्कर का क्षण आ पहुँचा।

दृष्टि-युद्ध प्रारम्भ हुआ। नेत्रों का तेज परस्पर टकराया। देखना था किसकी पलकें झुककर बरोनियों से अपने प्रतिपक्षी का चरण छूती हैं। बाहुबली जीत गए। उनकी सेना ने तुमुल हर्षनाद किया। भरत की आँखों के आगे पराजय की कालिमा लहरा गयी।

इसके बाद जल-युद्ध की बारी थी। बहुत विशाल सरोवर था—योजनों लम्बा-चौड़ा। दोनो महाबली योद्धाओं के योग्य। एक किनारे से दूसरे किनारे तक की दौड़। जल में तरह-तरह के आसनों और मुद्राओं के साथ संतरण की सामर्थ्य की चुनौती ! और फिर, हथेलियो में पानी भर कर बौछार का प्रहार ! बाहुबली पानी उछालते तो भरत का वक्ष और चेहरा आक्रान्त हो जाता, आँखें धुंधिया जाती। भरत जल उछालते तो बाहुबली के वक्ष तक ही मुश्किल से पहुँच पाता। बात स्पष्ट थी। बाहुबली की ऊँचाई भरत से कही अधिक थी। और, जल-युद्ध में भी बाहुबली की विजय घोषित हुई।

पुन: आकाशभेदी जय-जयकार। दूसरी ओर भरत की सेना में श्मसान-सी नीरवता। भरत निराशा की सीमा पार कर, ज्वलन्त क्रोध की अग्नि-लीक में आ गये। किन्तु अभी तीसरा युद्ध शेष था।

मल्लयुद्ध। बाहुबली की विशाल काया। बलिष्ठ भुजाएँ। मांस-पेशियों का चट्टानों-सा उभार। भरत भी शक्ति के अवतार। दोनों दिग्गजों की भिड़न्त से धरा काँप गई। मल्ल-युद्ध के कौशल ने दर्शकों को चकित कर दिया। भरत, जैसे भी हो, इस दाव को जीतना चाहते थे। लेकिन, यह क्या ! पलक झपकते बाहुबली ने भरत को हथेलियों पर झुलाते हुए कंधों से ऊपर उठा लिया। अब क्या करें ? जमीन

पर पटक कर आहत करने की कल्पना से मन पिघल गया। सोचा, ये मेरे बड़े भाई हैं, इन्हें जमीन पर पटकना क्या ठीक होगा ? और, धीरे से हथेलियों को नीचे की ओर झुलाते हुए उन्होंने भरत को धरा पर उतार दिया। अब तो बाहुबली की सेना ने हर्षध्वनि से आकाश हिला दिया। दूसरी ओर फिर मरघट का-सा सन्नाटा। तभी भरत के मन के श्मशान में हजार-हजार ज्वालाएँ धू-धू कर उठीं। उसने घनीभूत क्रोध के चक्रावात में अपना चक्र चला दिया।

चक्रवर्ती का चक्र जब छूटता है तो वह विरोधी का सिर काटकर ही वापस आता है। 'हाय, भरत ने चक्र चला दिया !' लाखों कण्ठों का चीत्कार।

चक्र वेग से बाहुबली के सिर के पास पहुँचा। लेकिन, अचानक ही उसकी गति रुक गई। उसने बाहुबली के मस्तक की तीन प्रदक्षिणाएँ कीं और वापस आकर स्थिर हो गया।

भरत अपने क्रोध के चरम आवेग में यह भूल गये थे कि प्राण-लेवा यह चक्र अपने वंशजों पर नहीं चलता। भरत का अंग-अंग, रोम-रोम पराजय की यन्त्रणा में जलने लगा। क्रोध का नागफन अपने ही उद्धत अहंकार की शिला से टकराकर क्षत-विक्षत हो गया।

बाहुबली ने अपने बड़े भाई के पराजित, हताश, अभिशप्त, उदास चेहरे को देखा तो हृदय पसीज कर आँखों में छलछला आया।

"इसी अहंकार के दैत्य की सेवा करने के लिए भरत ने मेरे राज्य पर आक्रमण करना चाहा था ? दो वीरों के आमने-सामने के व्यक्ति-युद्ध की मर्यादा भूलकर उसने चक्र का सहारा लिया ? मेरे सिर को काट गिराने के प्रयत्न से नहीं चूका ? धिक्कार है इस क्रोध पर, इस अभिमान और इस राज्य-लिप्सा पर ! !"

बाहुबली ने प्रतिज्ञा की कि राज्य छोड़कर वह संन्यासी हो जाएंगे। वे वन में तपस्या करेंगे और उस रहस्य का पता लगाएंगे जिससे क्रोध पर विजय पायी जाती है, जिससे अभिमान को जीता जाता है, जिससे लोभ को वश में किया जाता है, जिसमें सिर्फ करुणा और प्यार का अमृतजल होता है जिससे आदमी के सूखे कण्ठ को सींचा जाता है। अपरिमित करुणा से द्रवित होकर उन्होंने भरत की ओर देखा और वन की ओर चरण बढ़ा दिये।

अब पराजित, अभिशप्त, दीन और नितान्त निराश्रित भरत अपनी टूटती हुई देह-वल्लरी को किसके सहारे थामे ? उसने लपककर बाहुबली के चरण पकड़ लिये। बाहुबली सकुचाये।

"भइया, तुम चक्रवर्ती हो। अपनी मर्यादा का ध्यान करो।"

"नहीं, नहीं, मैं चक्रवर्ती नहीं हूँ, तुम्हारा भाई हूँ। और तुम साथ नहीं होगे तो मेरा चक्रवर्तित्व किस काम का ? कौन मुझे सहारा देगा ?"

"अब नहीं भइया, मैं तो तीर्थंकर के पास भी नहीं जा रहा हूँ। स्वयं ही अपना

मार्ग बनाऊँगा। एकाकी ध्यान करूँगा। निरपेक्ष, निःसंग, स्वतन्त्र।"

लगता है यह भी एक प्रकार के अहंकार की वाणी थी, जिसने गुरू को ही नकार दिया। भरत के अनुनय-विनय को भी मान नहीं दिया।

तभी महामन्त्री का स्वर सुनाई दिया, "किस आवेग में जा रहे हो, बाहुबली? भरत की बात भी नहीं सुनना चाहते? पर, सोचो तो, यदि तपस्या करोगे तो कहाँ करोगे? भरत की भूमि पर ही तो करोगे? यदि आहार लेना हो तो किस के साधनों का लोगे? भरत के ही तो?" इन शब्दों को सुनकर बाहुबली को शायद आक्रोश आया हो, और उत्तर देने की भावना भी जगी हो, किन्तु मन को दबाया, अपने को समझाया—"तपस्या के लिए जा रहा हूँ। कष्ट, संकट और मान-अपमान को सहना भी तो तप है। साधना यहीं से प्रारम्भ हो।"

बाहुबली ने मानो महामत्री का स्वर सुना ही नहीं। चुपचाप चले गये। दूर, वन में। अपने ही विचारों मे मग्न। ध्यान और समाधि में दत्तचित होने के लिए।

इस प्रकार बाहुबली मुनि हो गये। और, पुराणों का कहना है कि उन्होंने एक वर्ष का प्रतिमा-योग धारण कर लिया, कायोत्सर्ग मुद्रा में ध्यान करने की प्रतिज्ञा कर ली। ध्यान की इस उत्कृष्ट मुद्रा में जहाँ काया की संज्ञा का उत्सर्ग करना होता है उन्होंने वर्षभर इतना कठोर तप किया कि दीमकों ने देह में घर बना लिया, साँपों ने चरणों में बाँबियाँ बना लीं, लताएँ शरीर पर चढ़ गईं, छिपकलियाँ देह पर घूमने लगीं।

ऐसी अडिग तपस्या ने बाहुबली के भीतर एक दीप जला दिया। किन्तु बाहुबली के हृदय-क्षितिज पर साधना का वह प्रभात उदित नहीं हुआ जिसमें पूर्ण ज्ञान की किरणें फूटती हैं—जिसे केवलज्ञान कहते हैं, जो साधु को अर्हन्त का पद देता है, जो मोक्ष प्राप्त करने का मुख्य साधन होता है।

इधर, भरत ने विचार किया—बाहुबली प्रायः एक वर्ष से ऐसी घोर तपस्या में लीन हैं कि सारी पृथ्वी को छोड़कर केवल उतनी ही धरा अपने लिए निश्चित कर ली है, जितनी पर पाँव के दो तलवे रखकर खड़े-खड़े ध्यान कर सकें। न आहार, न जल, न संचरण, न कम्पन।

भरत का मन अपने भाई की इस असम्भव और अनहोनी तपस्या को देखकर रात-दिन चिन्ता में डूबा रहता। इतनी घोर तपस्या करने पर भी बाहुबली को केवलज्ञान क्यों नहीं होता? उन्हें मोक्ष क्यों नहीं मिलता?

भरत अपने पिता तीर्थंकर ऋषभदेव की धर्मसभा में गये। प्रश्न किया, "प्रभो! बाहुबली एक वर्ष का प्रतिमायोग धारण कर इतनी घनघोर तपस्या कर रहे हैं; उन्हें केवलज्ञान क्यों नहीं होता? दो तलवों भर जमीन पर खड़े हैं। ऐसी तपस्या भला कभी किसी ने की?"

भगवान् ऋषभदेव ने कहा—

"भरत, तुम्हारे प्रश्न का उत्तर इसी तथ्य में है कि बाहुबली पाँव के दो तलवों भर पृथ्वी पर खड़े हैं। बाहुबली को केवलज्ञान इसीलिए नहीं होता कि उनके मन में एक काँटा है, काँटे की-सी कसक है, एक शल्य है, कि जिस धरती पर उनके तलवे टिके हैं, वह धरती भी आखिर है तो भरत की ही। और यह धरती उस भरत की है जिसने इसके लिए युद्ध किया, जो चक्रवर्ती सम्राट् है। और, उस धरती पर वे खड़े हैं। बाहुबली की तपस्या के फूल को यह काँटा कुरेद रहा है, और यह भी कि वह तुम्हारे मन के संक्लेश का कारण बने। जाओ, संबोधन करो।"

भरत की आँखें भर आयीं। भगवान आदिनाथ को प्रणाम करने के उपरान्त भरत वापस आकर सीधे राजभवन में गये। अपनी बहिनों—ब्राह्मी और सुन्दरी को सब वार्ता बतायी। उन्हे साथ लेकर वह चल पड़े बीहड़ वन की ओर। पहुँचे ध्यान-मग्न बाहुबली के चरणों तक। तपोवन का वातावरण देखकर मन्त्र मुग्ध हो गये। परम शान्ति और आह्लाद के अलौकिक परिवेश मे करुणा और मैत्री की भावनाओं ने चर-अचर के प्राणों को स्पन्दित कर रखा था। हाथी और सिंह आत्मीय भाव से एक साथ बैठे हुए थे। जिस हथिनी ने अभी-अभी शिशु को जन्म दिया था, वह स्वयं तो एक भैंस के शिशु का मस्तक सूँघ कर उसे प्यार से अपना दूध पिला रही थी, और हथिनी के शिशु के मुख को एक सिंहनी छाती से चिपकाये स्तन-पान कराने की चेष्टा कर रही थी। मेघों के गर्जन की लय पर मयूर नाच रहे थे और सर्पों की मण्डली कुण्डली मारे, फण उठाये झूम रही थी। बहिनों ने देखा कि सैकड़ों कुक्कट सर्प चरणो के पास बाँबियाँ बनाये शान्त भाव से बैठे हुए हैं। हरी-भरी माधवी लताएँ, पिप्पली लतिकाएँ, अपनी समस्त कमनीयता के साथ घेरे हुए हैं दिगम्बर साधु के पावन चरणों को, जंघाओं को, भुजाओं को। बहिनों की पुलकावलि स्वयं ही लता-सा विस्तार पाती गयी। बड़े आदर से, सुन्दरी और ब्राह्मी ने लताओं को हटाना शुरू किया। वे अपने शरीर पर उन्हे ओढ़ती चली गयीं। लेकिन भाई को तो स्पर्श का संवेदन ही नहीं! भरत भी सोच में पड़ गये कि किस अतल साधना में लवलीन हैं बाहुबली! भला भावना की ऐसी अलौकिक स्थिति में कोई शल्य कैसे प्रश्रय पायेगा? कोई काँटा कैसे कसकेगा? पर, भगवान आदिनाथ ने जो कहा है, वह सर्वज्ञ की वाणी है। शूल की कोई-न-कोई अनी, कभी-कभी अन्तर्मुहूर्त में कसक जाती होगी या सरसराती हवा की कोई हल्की-सी लहर गुंजा जाती होगी महामन्त्री का वह स्वर: "बाहुबली कहाँ जा रहे हो? है कहीं ऐसी पृथ्वी जिस पर चक्रवर्ती भरत का अधिकार न हो?"

भरत का सोच जितना गहराता, उनकी हथेली बाहुबली के दायें हाथ को उतनी ही द्रुतगति से सहलाती जाती। अब भरत के आँसू बाहुबली के चरणों का अनवरत प्रक्षालन किये जा रहे थे। सहसा ही ध्यानस्थ योगी की काया में चेतना का एक मन्द कम्पन, रोमराजि में एक हल्का-सा स्फुरण, बरौनियों का एक शान्त

उन्मीलन, स्पन्दित हुआ। और भरत के उर में वसन्त के शत-सहस्र फूलों की सुरभि महक उठी।

तभी दोनों बहिनें—ब्राह्मी और सुन्दरी, हृदय की समस्त मंगल-कामनाओं को वाणी की मिश्री में घोलती हुई बोली :

"वीरो, भइया हमारे, गज से नीचे उतरो।"

"किसने कहा? किससे कहा? मुझसे? मैं क्या हाथी पर चढ़ा हुआ हूँ। दो तलवों भर धरा पर ध्यान करता रहा हूँ और ये वाणी कहती है, 'गज से नीचे उतरो!" मुनि बाहुबली के मन में बिजली-सी कौंध गई! समाधान उन्हें स्वयं ही से प्राप्त हो गया। शब्दों के अर्थ की आवश्यकता नहीं पड़ी। "सचमुच, भरत की पृथ्वी पर खड़े होने का संवेदन-शूल मुझे अहंकार के गज पर उठाये हुये है......"

इसी बीच सुनाई पड़े भरत के शब्द :

"मुनिराज, भरत का यह चक्रवर्तित्व तुच्छ है। आपकी इस तपस्या पर भरत के हजार राज्य निछावर हैं। आपको मैं नमन करता हूँ।"

भरत की शान्त, गद्‌गद वाणी ने बाहुबली के मन को सुलझा दिया। उन्होंने आगे बढ़ने के लिए जैसे ही पग उठाया, वह वीतराग ध्यान के ऊँचे-से-ऊँचे शिखर पर एक क्षण में पहुँचे गये। उन्हें केवलज्ञान हो गया। निर्वाण की ओर उनकी यात्रा द्रुततर हो गई। तीर्थंकर आदिनाथ से भी पहले वह मोक्षगामी हो गये। यह मानव की आध्यात्मिक विजय का चरम-परम उत्तुंग शिखर था।



3

सम्राट् भरत : अनासक्त योगी

भरत की जीवन-यात्रा अनेक गहरे और अन्तर्वेधी अनुभवों के कुसुमित और कंटकित मार्गों से गुजर चुकी थी। अहंकार के अणु का विध्वंसकारी विस्फोट वह देख चुके थे, सह चुके थे। अब वह चक्रवर्ती के कर्त्तव्यों का अनासक्त भाव से पालन करने लगे। उन्होंने अहिंसा धर्म की प्रतिष्ठा के लिए ब्राह्मण वर्ण का निर्माण किया। यह चौथा वर्ण था। भगवान आदिनाथ शेष तीन वर्णों की स्थापना समाज-व्यवस्था की दृष्टि से पहले ही कर चुके थे। सारे रत्न, सारी सम्पदाएँ और सारे भोग अब बन्धन नहीं थे। मन अब राज्य-व्यवस्था के केवल मानव-कल्याणकारी पक्षों को स्वीकारता था। धर्म का मनन, आत्म-चिन्तन और समताभाव का दर्शन उनके जीवन और क्रिया-कलाप में जन-मन को अब प्रत्यक्ष दिखाई देता। 'भरत जी घर मे ही वैरागी' की कीर्ति यथार्थ पर आश्रित थी।

पुराण की कथा है कि एक बार इन्द्र की सभा में चर्चा चल पड़ी कि भरत क्षेत्र में वहाँ के चक्रवर्ती सम्राट् भरत का यशोगान इसलिए हो रहा है कि गृहस्थ होते हुए भी वे अन्तरंग से साधु हैं।' राज-काज करते हुए भी वे कल्मष और अशुभ भावों से दूर हैं। स्वर्ग के सुखों में रमण करने वाले देवों को यह कल्पना विचित्र लगी। उनमें से एक देव का कौतूहल इतना उग्र हो गया कि उसने मनुष्य-लोक में जाकर स्वयं भरत की परीक्षा लेना उचित समझा। एक वृद्ध ब्राह्मण के रूप में वह देव भरत महाराज के सामने आ उपस्थित हुआ। पूछा—

"महाराज, आप चक्रवर्ती सम्राट् हैं, राज-काज चलाते हैं, आरम्भ और परिग्रह का इतना बड़ा संसार आपकी व्यवस्था में चल रहा है, आपका राज-प्रासाद भोगों और उपभोगों की सुविधा-सामग्री से भरपूर है। आप इन सबके बीच क्रियाशील हैं। फिर यह कैसे संभव है कि आप विरागी हों? क्षमा करें महाराज, इस असंभव बात को मानने का मेरा मन नहीं होता। धृष्टता न मानें, मैं इसका प्रमाण चाहता हूँ।"

महाराज भरत मुसकाये। उन्होंने अपने प्रधान अमात्य को बुलाया। वृद्ध विप्र की शंका उसके सामने रखी और कहा :

"इनका समाधान आप कर दें।"

विप्र ने विनम्र होकर कहा, "प्रश्न आपसे है, अनुभव आपका है, समाधान अन्य कोई व्यक्ति कैसे करेगा ?"

चक्रवर्ती फिर मुसकाये। बोले—

"आप चिन्ता न करें, विप्र ! मैं अमात्य को स्वयं ही सब बताने वाला था कि मेरे विषय मे आपकी शंका का समाधान किस प्रकार करना है। आप कल प्रातःकाल इनसे इनकी कार्यशाला में मिलें। मैं इन्हें प्रमाण-प्रस्तुति की विधि बता देता हूँ।"

अगले दिन प्रातःकाल परीक्षक विप्र, अमात्य के पास पहुँचा। अमात्य ने पास खड़े दो खड्गधारी सैनिकों को बुलाया। वृद्ध ब्राह्मण से कहा—'विप्रवर, आप सामने देख रहे हैं, चौकी पर यह क्या रखा है ?" ब्राह्मण ने बताया—"तेल से भरा कटोरा।"

"पूरा भरा है, या कुछ खाली है ?"

"कुछ खाली है।"

"तब, आप पास वाले पात्र में से तेल उंडेल कर इस कटोरे को पूरा भर लें; इतना कि सारे किनारे डूबे रहें किन्तु एक बूंद भी अधिक न होने पाये कि बाहर छलके। रूई की एक बाती भी जला लें।"

बहुत सावधानी से विप्र ने एक-एक बूंद डालकर कटोरा पूरा-पूरा भर लिया, बाती जला ली, और अपनी कुशलता पर प्रसन्न होकर बोला—"अमात्य महोदय, देखिये कितनी सावधानी और सतर्कता से मैंने कटोरा भरा है। एक बूंद की जगह भी अब खाली नहीं, और, एक भी बूंद गिरने नहीं पायी। बाती भी जल रही है किन्तु आपने मुझे जिस हेतु बुलाया उसके विषय में तो बताइये।"

"वही है यह विषय, विप्र ! आपकी सतर्क दृष्टि से मैं प्रसन्न हूँ। वही अब स्वयं प्रमाण खोजेगी। ऐसा कीजिए कि यह कटोरा सावधानी से अपने हाथों में उठा लीजिए। आज आपकी अभ्यर्थना के लिए मैंने समस्त राज-प्रासाद की नाना प्रकार से साज-सज्जा करवायी है। अनेक प्रदेशों के सैनिक अपनी-अपनी रंग-बिरंगी वेश-भूषा में आपके चित्त को आकर्षित करेंगे। प्रासाद-वासी आपको नाना प्रकार की वस्तुएँ भेंट में देने के लिए तत्पर मिलेंगे। प्रसन्नचित्त से आप उन्हें स्वीकार करते चलें। आप प्रदक्षिणा लगा आयें। केवल इतना ध्यान रखें कि तेल की एक बूंद भी छलकने न पाये। और हथेलियों के कौशल से बाती की लौ न बुझने पाये। अन्यथा इसमें बहुत विपत्ति है। ये जो असिधारी सैनिक आपके अगल-बगल चलेंगे, इन्हें मालूम है कि यदि तेल की एक बूंद छलकती है या बाती बुझती है तो

इन्हें क्या करना है। आप जैसे ही प्रदक्षिणा से लौटकर आयेंगे और महाराज भरत के सामने प्रासाद की शोभा का वर्णन करेंगे, अपने उपहारों का प्रदर्शन करेंगे, आपकी शंका का समाधान प्रत्यक्ष प्रकट हो जायेगा। उठा लीजिए कटोरा। यह यात्रा आपके लिए अब अनिवार्य हो गई है। इसमें किसी ओर से किसी छल को स्थान नहीं है। इस कार्य को कर दें।"

देव अब वचन-बद्ध था। दैवी-चमत्कार भी निषिद्ध था। एक-एक पग संभालता हुआ, कटोरे पर दृष्टि जमाये वह महल में घूमा किन्तु मन-ही-मन असिधारी सैनिकों की उपस्थिति से आतंकित रहा। वापस आकर सूर्यास्त के समय वह सम्राट् के पास पहुँचा और प्रज्वलित कटोरा उनके पास रख दिया तो उस समय उसका भाव ऐसा था मानो सिंह के पंजे से प्राण बचाकर हिरण भाग खड़ा हुआ है।

"कहो, कैसी रही यात्रा, तुम्हारी, विप्रवर ?" महाराज भरत ने पूछा।

"मैं विप्र नहीं हूँ," कहकर देव अपने वास्तविक रूप में प्रकट हो गया। बोला :

"मुझे क्या पता महाराज, कि यात्रा क्या थी, कहाँ तक की थी, क्या साज-शृंगार था, क्या-क्या वस्तुएँ उपहार के लिए प्रस्तुत थीं। मेरा तो सारा ध्यान कटोरे पर और कटोरे में किनारों तक भरे तेल की एक-एक बूंद पर और प्रज्वलित बाती पर था। बहुत बड़ी विपत्ति के बीच मैंने अपने प्राणों को सुरक्षित रखा है।"

"शका का समाधान हुआ ?" महाराज ने पूछा।

"निश्चित रूप से हो गया" देव बोला। "आप सचमुच राजर्षि हैं। सारी भोग्य-सम्पदा के बीच आपका ध्यान केवल धर्म और आत्मा पर केन्द्रित है—जैसे मेरे प्राण कटोरे में भरे तेल और बाती की लौ के ऊपर अटके रहे। असावधानी के प्रत्येक क्षण में कर्मबन्ध का डर उपस्थित है, यह अनुभूति धर्म के केन्द्रबिन्दु से आपको डिगने नहीं देती।"

"यही सावधानी और श्रम, श्रमण धर्म है।" देव ने मन में सोचा और कहा, "मेरी सब जिज्ञासाएँ शान्त हो गईं। आप चिरजीवी हों"

यह कहकर देव अकस्मात् विलीन हो गया।

भरत की वैराग्य-भावना दिन-पर-दिन प्रबल होती गई, उनका आत्मचिन्तन गहन होता गया। साम्राज्य अपनी सुचारु गति से चल रहा था। निरासक्त भरत अपने लक्ष्य की ओर बढ़ रहे थे।

प्रव्रज्या का एक क्षण आता है जिसे काल-लब्धि कहते हैं। एक दिन महाराज भरत दर्पण के सामने खड़े थे कि उन्हें सिर में एक श्वेत बाल दिखाई दिया। "जीवन में जरा के, वार्धक्य के प्रवेश की अगवानी इसी श्वेत पताका से होती है। जन्म-जरा-मृत्यु स्वाभाविक परिणमन है," परमार्थ में भरत की आस्था और अधिक बलवती हो गई।

भरत ने अपने पुत्र अर्ककीर्ति को राज्य-भार सौंपा, स्वयं मुनिव्रत धारण किया, संयम-साधना की अपूर्व क्षमता फलवती हुई कि उन्हें उसी समय मन:पर्ययज्ञान हो गया—प्राणियों की मनोभावनाओं और विचारों का प्रत्यक्ष दर्शन। फिर केवलज्ञान का सूर्य उदय हुआ और महामुनि भरत देश-देशान्तर में जीवों को कल्याणकारी धर्म का उपदेश देने के लिए विहार करने लगे। अन्त में, योगी भरत ने कर्मों का उच्छेद किया और वह मोक्ष की अवस्था में अविनश्वर आत्मधाम में स्थित हो गये।



खण्ड : दो

पुराकथा की इतिहास-यात्रा

"उत्तरापथात् दक्षिणापथम्"

1

चन्द्रगुप्त मौर्य का उदय

चाणक्य की प्रतिभा का चमत्कार

आज से लगभग 2300 वर्ष पहले का भारत।

प्राचीन बिहार के गोल्ल प्रदेश के चाणक गाँव में एक भद्र-परिणामी श्रावक ब्राह्मण चणक रहते थे। उनकी पत्नी का नाम, ग्राम-निवासियों में, चणकेश्वरी प्रचलित हो गया। इन पति-पत्नी के जीवन में आनन्द का अवसर आया। पुत्र उत्पन्न हुआ। बालक ने माता का स्तन-पान करने के लिए ज्यों ही अपना मुँह लगाया कि ब्राह्मणी को एक विचित्र अनुभूति हुई। बालक के मुँह में पूरी दन्त-पंक्ति मौजूद! बालक का आकार-प्रकार और हड्डियों का गठन भी टेढ़ा लगा। वह भयभीत हुई। उसने पति को पुकारा। पति ने देखा तो वह भी आश्चर्य-चकित और दुखी!

उस दिन सौभाग्य से ग्राम के पास के वन में एक श्रमण मुनि आये थे, जिनकी वन्दना चणक कर चुका था। अपने पुत्र को गोद में लेकर ब्राह्मण, मुनि महाराज के पास पहुँचा और उन्हें बालक की दन्त पंक्ति दिखायी। साधु निमित्तज्ञानी थे। बोले—"आयुष्मन् विप्र, तुम चिन्ता न करो। यह लक्षण है राजा बनने का, यश कमाने का।" बस इतना कहा और मुनि अपने ध्यान में लीन हो गए। ब्राह्मण ने आगे कुछ पूछना चाहा किन्तु मुनि को ध्यान-मग्न देखकर वापस घर आ गया। पत्नी को बताया। पत्नी कुछ समझ न पायी। "एक निर्धन अकिंचन ब्राह्मण का पुत्र राजा बनेगा, यह कैसे संभव हो सकता है?" ब्राह्मण इस कल्पना से ही भयभीत हो गया। वह त्यागी-व्रती श्रावक था। "इस पुत्र का पालन-पोषण करते हुए हर क्षण मैं अब इसी चिन्ता में लीन रहूँगा कि मुझ व्रती ब्राह्मण के घर घोर आरम्भ और परिग्रह करने वाला, युद्ध और विजय के अभियानों के विध्वन्स का खेल रचनेवाला राजा पल रहा है, जो इसी कारण अन्त में नरक जायेगा," ब्राह्मण मन ही मन सोचता रहा।

थोड़ा स्थिर-चित्त हुआ तो उसके मन में विचार उठा—"यदि इस बालक का राजयोग इस कारण है कि इसके पूरे दांत उगे हुए हैं, तो इस लक्षण को ही क्यों न भंग कर दिया जाये ? तब राज-योग खण्डित हो जायेगा और मेरे घर-परिवार की, मेरे पुत्र के संस्कारों की रक्षा हो जायेगी।" उसने पत्नी को विधि बता दी कि क्या करना होगा। पत्नी ने बलिष्ठ शिशु के दांत धीरे-धीरे छैनी से घिसने प्रारम्भ कर दिये। जब सब दांत घिसे गये, तो ब्राह्मण फिर मुनि महाराज को खोजता हुआ दूर एक वन में पहुँचा। विधिवत् नमस्कार करके प्रश्न किया :

"मुनिवर, राज-योग के लक्षणों को मैंने अपने बालक के मुंह में से समाप्त कर दिया। सब दांत नष्ट कर दिये, अब आप मुझे निश्चिन्त कीजिये कि मेरा पुत्र राजा नहीं बन पायेगा।···"

"सुनो श्रावक", मुनि महाराज ने कहा। "दांत तुमने घिस दिये, इससे वह नष्ट तो नही हुए। जड़ें तो अभी यथावत् हैं। हां, निमित्तज्ञान अब यह अवश्य बताता है कि जिस बालक को राजा बनना था, वह स्वयं तो राजा नहीं बनेगा, किन्तु राज्य की जड़ें जमवायेगा। राजा को अपने प्रभाव में रखेगा। चणी, तुम्हारा यह पुत्र चाणक्य कहलायेगा और अपनी बुद्धि से, अपनी युक्ति से, राज-नीति के कौशल से, संसार को चकित कर देगा, यशस्वी होगा।"

गुरू को श्रद्धापूर्वक नमस्कार करके ब्राह्मण घर लौट आया। अब उसके मन में यह आश्वासन था कि पुत्र यदि यशस्वी होगा तो उत्तम है। राजा तो वह स्वयं नहीं बनेगा किन्तु वह मन्त्री अवश्य बन जायेगा। ब्राह्मण लोग मन्त्री हुआ करते हैं। अच्छा तो यह भी नही होगा कि राज-काज के परिग्रह में इसका मन उलझे। स्वयं राजा नही बनेगा, बस इतनी ही रक्षा है।···बालक का नाम चाणक्य पड़ गया।[1]

धीरे-धीरे बालक बढ़ता गया। पिता को यह देखकर सन्तोष हुआ कि घर में सम्पदा नही बढ़ रही है। निर्धनता ने पति-पत्नी के मन को सन्तुलित बना रखा है।

पिता की सम्पदा शास्त्र-ज्ञान थी, सो उसने बालक को गुरुओं से अनेक शास्त्र पढ़ाये—धर्म, दर्शन, इतिहास, तर्क, व्याकरण, ज्योतिष, छन्द आदि 14 विद्याएँ सिखायी। बालक अद्भुत ज्ञानी हो गया। धुरन्धर विद्वान होने पर पिता ने इसका विवाह यशोमती नामक एक ब्राह्मण-कन्या से कर दिया। यशोमती अपने पति की बुद्धि और शील स्वभाव से परिचित हो गई तो प्रसन्न मन से घर गृहस्थी में लग गयी। पति के बेडौल शरीर को उसने अपनी आँखों में नया रूप दे लिया। घर में अभाव था, सो विपन्न होकर रहना सीख लिया।

यशोमती एक बार अपने भाई के विवाह के अवसर पर पिता के घर आयी।

---

1 हेमचन्द्राचार्य कृत जिस 'अभिधान-चिन्तामणि' में चाणक्य की यह कथा दी हुई है, उसमें चाणक्य के आठ नाम गिनाए गए हैं—(1) वात्स्यायन, (2) मेल्लिनाग (3) कुटिल या कौटिल्य, (4) चाणक्य, (5) द्रामिल, (6) पक्षिलस्वामी, (7) विष्णुगुप्त, (8) अङ्गुल।

उसकी दूसरी बहनें भी विवाह में आयी थीं। सब के पास सुन्दर वस्त्र और मूल्यवान आभूषण थे। यशोमती थी एक निर्धन ब्राह्मण की पत्नी। बहिनों ने यशोमती की निर्धनता की तथा उसके पति की द्रव्य-उपार्जन की अक्षमता और कुरूपता की हँसी उड़ाई। यशोमती ने विवाह के वे दिन मन मारकर काट दिये। दुःखी होकर जब यशोमती पति के पास लौटी तो उसने अपनी व्यथा-कथा उसे सुनाई। उसके आँसुओं की धार रुक नहीं रही थी। चाणक्य ने तभी निश्चय कर लिया कि वह गांव से बाहर जाकर धन कमायेगा और सबको दिखा देगा कि उसकी क्या सामर्थ्य है। अभिमान और अहंकार की मात्रा भी चाणक्य में उतनी ही थी, जितना बड़ा उसका ज्ञान।

वह नन्दराजाओं की राजधानी पाटलिपुत्र पहुँचा। महाराजा महापद्मनन्द की दानशाला में प्रवेशकर वहाँ के पण्डितों को शास्त्रार्थ की चुनौती दी और सबको पराजित कर दिया।

बात मगध-सम्राट् तक पहुँची। प्रसन्न होकर उन्होंने चाणक्य को दान-शाला का प्रधान बना दिया। चाणक्य का यश और प्रभाव दिनोंदिन बढ़ता गया। युवराज घनानन्द को चाणक्य का अहंकार, उसकी उद्धतता और उसका बढ़ता हुआ प्रभाव पसन्द नहीं था। एक दिन युवराज ने दासी से सुना कि चाणक्य राज-सभा में आकर स्वयं महाराज के खाली सिंहासन पर बैठ गया। दासी ने चाणक्य से जब कहा कि सिंहासन को छोड़कर दूसरे आसन पर बैठें तो चाणक्य ने कहा—"इस पर तो मेरा कमण्डलु रहेगा।" "तब इस तीसरे आसन पर बैठो", दासी ने कहा। "इस पर मेरा वस्त्र रहेगा, और उस अगले आसन पर मेरा यज्ञोपवीत, और उस आसन पर शास्त्र···" दासी से यह घटना सुनकर युवराज का क्रोध इस सीमा तक बढ़ा कि उसने चाणक्य की चोटी पकड़कर उसे दानशाला से धक्के देकर निकाल दिया। चाणक्य ने क्रुद्ध नाग की तरह अपनी चुटिया की कुण्डली खोल दी और प्रतिज्ञा की : "मैं जब तक इस समूचे नन्दवंश का नाश नहीं कर दूंगा, शिखा की गाँठ नहीं बाँधूंगा।" वह निकल पड़ा ऐसे होनहार बालक की खोज में जिसमें राजत्व के गुण हों, जिसके माध्यम से वह नन्दवंश का उच्छेद करके नये राजवंश की स्थापना करे। नये राजवंश की स्थापना के लिए आवश्यक था कि प्रारम्भ से ही स्वयं से प्रतिबद्ध व्यक्ति को राज्य-संचालन की क्षमता में प्रशिक्षित किया जाये और उसके माध्यम से इतना सैन्य-बल एकत्र किया जाये कि नन्द राजा को युद्ध-कौशल और नीति-चातुर्य के आधार पर सिंहासन से च्युत किया जा सके।

चाणक्य घूमता हुआ हिमालय की तराई में पिप्पलीवन में बसे मौर्यों के गण-तन्त्र में पहुँचा, जहाँ के शासक व्रात्य-क्षत्री थे। वह गाँव के मुखिया के यहाँ ठहरा तो पाया कि गृहपति इस चिन्ता से त्रस्त हैं कि उनकी गर्भवती पुत्री को यह दोहद या अन्तरंग इच्छा हुई है कि वह चन्द्रमा का पान करे।

चाणक्य को अपनी बुद्धि पर विश्वास था। उसने गृहपति को आश्वस्त कर दिया कि वह उसकी पुत्री को अवश्य चन्द्रमा का पान करवा देगा। "शर्त यह है" चाणक्य ने कहा, "जो बालक उत्पन्न हो उसकी शिक्षा-दीक्षा और उसके भविष्य के निर्माण का दायित्व मेरे ऊपर ही रहेगा। मैं जब चाहूँ, बालक को इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए साथ ले जाऊँगा।"

गण के मयूरों के रक्षक मौर्य गृहपति ने चाणक्य की यह शर्त मान ली। उसने सोचा, जो व्यक्ति इतना कुशल है कि मेरी पुत्री को चन्द्रमा पिला देगा वह मेरे बालक के भविष्य को भी सुन्दर बनायेगा।

चतुर चाणक्य ने भी यह सोचा कि दोहद पूरा होने से पहले ही यदि प्रतिज्ञा करवा लूँगा तो गृहपति वचनबद्ध हो जायेंगे। बाद में ऐसी बात सामने रखूँगा तो वह धन-सम्पदा देने का विकल्प सामने रखेंगे और इच्छित उद्देश्य पूरा न हो पायेगा।

चाणक्य को ज्ञान हो गया कि जो श्रेष्ठी-पुत्री चन्द्रमा को पीने का दोहद पाल रही है, उसके गर्भ का बालक अवश्य ही प्रतापी होगा, और वही उसकी आशाओं के अनुरूप राजा बन सकेगा।

चन्द्रोदय होते ही चाणक्य ने गृहपति की गर्भवती पुत्री को छप्पर वाले कमरे में आराम से पीढ़े पर बैठ जाने को कहा। हाथ में जल से भरी थाली दे दी और कहा कि फूस की छत वाले झरोखे से जो चन्द्रमा दिखाई देता है वह जैसे-जैसे थाली में आता जाये भगवान का नाम-स्मरण करती हुई वह चन्द्रमा को थाली में से धीरे-धीरे पीती रहे। जब समूचा चन्द्रमा पी चुके तो आँख बन्द करके लेट जाय। मन को बहुत प्रफुल्ल और प्रसन्न रखे। उसे अनुभव होगा कि चन्द्रमा की शीतलता पेट में हिलोरें ले रही है।

चाणक्य ने अपनी वाणी की चतुराई से और आशीर्वाद की मुद्रा से गाँव के एक आदमी को अपने साथ मिला लिया था। उसे आदेश दे दिया था कि वह फूस की छत पर दबे पाँव चढ़ जाये और छत पर जो झरोखा बना हुआ है, जिसमें से चन्द्रमा की किरणें नीचे घर में पड़ रही हैं, उस झरोखे को धीरे-धीरे फूस से इस तरह ढकता जाये कि चन्द्रमा का प्रकाश नीचे कमरे में क्रमशः कम होता जाये। यह ध्यान रखे कि नीचे रहने वालों को न तो हाथ की उंगलियाँ दिखाई दें, न कोई शब्द सुनाई दे।

स्पष्ट है कि जब उल्लास से भरी हुई गर्भवती नारी ने यह पाया कि धीरे-धीरे जल में लहराते चन्द्रमा का बिम्ब कम होता जा रहा है और वह उतने-उतने अंश को पीती जा रही है तो उसे तृप्ति होती गई। धीरे-धीरे चन्द्रमा इतना कम हो गया कि उसका प्रकाश समाप्त हो गया और वह नारी अपार शीतल मधुरिमा की अनुभूति से भरी पलँग पर लेट गई और कुछ ही क्षणों में निद्रालोक में चली गई।

चाणक्य का साथी विदा हो गया था। चाणक्य पूरे भरोसे के साथ स्वयं भी

विश्राम करने गृहपति द्वारा बताये गये कक्ष में चले गये थे।

प्रात:काल चाणक्य उठे तो देखा, गृहपति स्नान-ध्यान करके स्वर्ण मुद्रायें लेकर अभिवादन के लिए खड़े हुए हैं। चाणक्य ने सारी सामग्री को अपने दाहिने हाथ की उँगलियों से छू दिया और कहा, "यह सब देवता के चरणों में अर्पित कर दो, मैं कुछ नहीं ले सकता।"

गृहपति ने उल्लास और भक्ति से नमस्कार किया। चाणक्य थोड़ी देर में तैयार होकर अपनी दैनिक पूजा-उपासना से निवृत्त होकर, आहार लेकर चले गये। बालक का जन्म माता द्वारा चन्द्रमा-पान करने के उपरान्त हुआ था अत: उसका नाम चन्द्रगुप्त रखा गया। बालक मौर्य गणतन्त्र का था अत: उसकी उपाधि मौर्य हुई।

इस कथा का अगला चरण तब प्रारम्भ हुआ जब अपनी धुन का पक्का चाणक्य आठ-दस वर्ष बाद फिर उसी गाँव में आया। एक स्थान पर बालकों को खेलता हुआ देखकर ठिठक गया, क्योंकि बालकों का दल राजा-प्रजा का खेल खेल रहा था। जो बालक राजा बना हुआ था वह इतनी सहज कुशलता से शासक का अभिनय कर रहा था कि सारे बालक उसकी आज्ञा में बंधे हुए थे।

नायक बालक खेल-खेल में कभी किसी लड़के को घोड़ा बनाता, किसी को हाथी और उन पर सवारी करता। मिट्टी के घरोंदे बनाकर उन्हें गाँव मानकर उन पर हाथी घोड़े छोड़ देता। गाँवों को खेल-खेल में विजय कर लेता। अच्छा काम करने वाले साथियों को पुरस्कार देने का अभिनय करता। अकुशल योद्धाओं की प्रताड़ना करता।

चाणक्य बालक के साहस की परीक्षा लेने के लिए उसके सामने पहुँचा और बोला—"महाराज, आप इतने बड़े नरेश हैं। मुझ ब्राह्मण को भी कुछ दान में दें।"

"क्या चाहिए है तुम्हें विप्र, बोलो, तुम्हारी इच्छा पूरी करूँगा।"

"मुझे जो भी आप देना चाहें!"

"अच्छी बात है, देखो सामने गाँव की इतनी गायें चर रही हैं। तुम्हें जो-जो पसन्द हों ले लो।"

"किन्तु, गाँववाले क्या मुझे ये गायें ले जाने देंगे? मैं उनकी वस्तु के अपहरण करने के अपराध में दण्डित नहीं किया जाऊँगा?"

"नहीं, यह अपहरण नहीं है। राजा चन्द्रगुप्त द्वारा दिया हुआ दान है। जो कोई इसमें बाधा डालेगा, वह दण्ड का भागी होगा। तुम निःसंकोच गायें छाँटकर ले जाओ। तुम दण्डित नहीं होगे।"

चाणक्य गद्गद हो गया: "इतना प्रतापी और साहसी यह बालक! उसी गाँव में जहाँ मैंने मौर्य गृहपति की पुत्री का चन्द्र-दोहद पूरा किया था।"

फिर भी पूछा, "कौन हो, वत्स तुम?"

नायक बालक की कथा सबको मालूम थी। साथियों ने बताया कि इसके माता-पिता कौन हैं और किस तरह इसकी माता को चन्द्रमा का दोहद हुआ था, किस प्रकार एक ब्राह्मण ने उस दोहद को पूरा किया था, और किस तरह उसने इसे अपने साथ ले जाने का वचन ले रखा था। पता नहीं वह विप्र कब आ जाये और इसे अपने साथ ले जाये।

"मैं ही हूँ वह विप्र," चाणक्य ने बताया। प्यार से उसने चन्द्रगुप्त के सिर पर हाथ फेरा और कहा—"बेटा, तुम खेल-खेल में राजा बने हुए हो। मैंने ही तुम्हारी माता का असंभव दोहद पूरा किया था। चलो मेरे साथ, मैं तुम्हें सचमुच का राजा बना दूंगा।"

चन्द्रगुप्त उस विप्र के साथ चलने को उद्यत हो गया। ऐसा ही आकर्षण था उसके व्यक्तित्व में, ऐसी ही पक्की लगन थी चन्द्रगुप्त के मन में राजा बनने की और ऐसा ही अटल विश्वास था चाणक्य के मन में कि नये राज्य की प्रस्थापना इसी बालक के माध्यम से पूरी होगी।

चाणक्य ने बालकों से मात्र इतना ही कहा—"जाकर बता देना इसके नाना-नानी को कि ब्राह्मण गुरु आये थे और अपने शिष्य को साथ ले गये हैं। वचन पूरा करने का समय आ गया था, अतः घर वाले चिन्ता न करें।"

अनहोनी-सी बात ! गुरु-शिष्य यात्रा पर चल दिये।

चाणक्य ने बहुत परिश्रमपूर्वक, सावधानी से, सारी विद्याएँ चन्द्रगुप्त को सिखायीं। कला-कौशल और अस्त्र-शस्त्र का ज्ञान भी कराया। धीरे-धीरे स्थान-स्थान पर युवकों की मंडली चन्द्रगुप्त के नेतृत्व में गठित होती गई।

चन्द्रगुप्त की तरुणाई का जब तेजोदय हो रहा था, उस समय भारत के पराभव की व्यथा राष्ट्र को कचोट रही थी। ईसा पूर्व 326 में भारत पर जब यूनानी सम्राट् सिकन्दर का आक्रमण हुआ तब राष्ट्र की शक्ति क्षीण हो चुकी थी। युद्ध-विद्या मे यूनानी निपुण थे। चाणक्य ने चतुराई से चन्द्रगुप्त को यूनानी सेना में भरती करा दिया, ताकि वह सेना-संचालन की कला सीख ले। चन्द्रगुप्त को देखने-सीखने का अवसर मिला, किन्तु एक दिन उसे बन्दी बना लिया गया, इस आरोप मे कि वह गुप्तचर है। जब चन्द्रगुप्त को सेना-नायक के सामने उपस्थित किया गया, तो नायक इस युवक के साहस और आत्मविश्वास से इतना प्रभावित हुआ कि इसे बन्धन-मुक्त कर दिया।

सिकन्दर लौट गया तो चाणक्य ने चन्द्रगुप्त के नेतृत्व में पांचाल के वाह्लीकों मे यूनानियों के विरुद्ध विद्रोह की भावना जगायी। तीन वर्ष के परिश्रम के बाद मगध साम्राज्य की सीमा पर चाणक्य ने चन्द्रगुप्त का एक छोटा-सा राज्य स्थापित करवा दिया। सैन्य-दल भी इकट्ठा हो गया क्योंकि नन्दों का शासन बहुत हिंसक और अन्यायपूर्ण हो चुका था। प्रजा आतंकित थी और कुशासन से मुक्ति चाहती

थी। दो-तीन वर्ष की तैयारी के बाद चन्द्रगुप्त की सेना ने सीधे मगध की राजधानी पाटलिपुत्र पर आक्रमण कर दिया। किन्तु नन्दों की विशाल सेना और अस्त्र-शस्त्रों की शक्ति से होड़ नहीं ली जा सकी। पराजित होकर, प्राण बचाकर, चाणक्य और चन्द्रगुप्त भाग निकले। चाणक्य दु:खी हुए। युद्ध-नीति में कहाँ क्या त्रुटि रह गयी ?

घूमते-घूमते चाणक्य एक दिन किसी वन-प्रान्तर के गाँव में पहुँचे। एक झोंपड़ी के बाहर खड़े हो गये। देखा, एक माँ अपने बेटे को भोजन करा रही थी। बेटे ने भोजन की थाली में परोसी गयी खिचड़ी के बीचों-बीच हाथ डाल दिया था। हाथ जल गया था। बुढ़िया कह रही थी—"कैसा मूर्ख है तू, चाणक्य की तरह। उसने सीमा के राज्यों को धीरे-धीरे जीतने के बजाय सीधे पाटलिपुत्र पर आक्रमण कर दिया और हार गया। तू खिचड़ी को किनारे-किनारे से खा। तब थाली के बीच तक पहुँच जायेगा और हाथ भी नहीं जलेगा।"

यह वार्तालाप सुनकर चाणक्य की आँखें खुल गईं। अब उसने चन्द्रगुप्त के लिए पुन: सेना संगठित की। सेना का संचालन इस प्रकार किया कि धीरे-धीरे सीमावर्ती राज्यों को चन्द्रगुप्त जीतता चला गया और अन्त में पाटलिपुत्र पर घेरा डाल दिया। चार वर्ष के युद्ध के उपरान्त राजा महापद्मनन्द ने धर्मद्वार पर आकर आत्म-समर्पण कर दिया। चाणक्य ने उसे प्राणों की भिक्षा दी। धन-परिवार लेकर महापद्मनन्द प्रवास में चला गया।

ई० पू० 317 में चन्द्रगुप्त के मौर्यसाम्राज्य की स्थापना हुई। और, नन्द-वंश के नाश के उपरान्त चाणक्य ने अपनी चोटी की गाँठ बाँधी। अब चन्द्रगुप्त सम्राट् थे और चाणक्य अमात्य-गुरु। चाणक्य ने चन्द्रगुप्त के अमात्य के रूप में राष्ट्र की जो अपूर्व सेवाएँ कीं, वे चन्द्रगुप्त के पुत्र बिन्दुसार को भी उपलब्ध रहीं। किन्तु बिन्दुसार को चाणक्य का प्रभाव सहन नहीं हुआ। यहाँ चाणक्य का मन भी राजकाज से विरक्त हो गया था अत: सत्तर वर्ष की अवस्था पार करते ही चाणक्य ने निर्ग्रन्थ मुनि-दीक्षा ले ली।

हरिषेण-कथाकोश में उल्लेख है कि एक बार जब मुनि चाणक्य पाँच सौ शिष्यों सहित क्रौंचपुर के वन में ध्यान-मग्न थे, तब वहाँ के राजा सुमित्र वन्दना को पहुँचे। चाणक्य के प्रति राजा का यह भक्तिभाव देखकर राजा का अमात्य सुबन्धु द्वेष से भर गया। एक बार जब मुनि चाणक्य उपलों के ढेर पर बैठे निर्विकार भाव से ध्यान कर रहे थे तो सुबन्धु ने कुचक्र द्वारा उपलों में आग लगवा दी, यद्यपि दिखाने के लिए वह पहुँचा था मुनि-वन्दना के लिए। चाणक्य समाधि में स्थिर रहे और उन्होंने उसी अवस्था में शान्तचित्त से शरीर त्याग किया। कहते हैं, क्रौंचपुरी के दक्षिण में आज भी चाणक्य की समाधि पूजी जाती है।

कन्नड़ कृति 'वड्डाराधने' में भी चाणक्य के कृतित्व का उल्लेख सम्राट् चन्द्रगुप्त और आचार्य भद्रबाहु की कथा के प्रसंग में आया है। चाणक्य की प्रतिभा

के वरदान से चन्द्रगुप्त मौर्य का जो व्यक्तित्व विकसित हुआ और उसके पौरुष ने देश को जो एकछत्र साम्राज्य का बोध दिया वह देश के आत्म-सम्मान की रक्षा का स्वर्णिम युग है। चन्द्रगुप्त मौर्य इतिहास-कालीन भारत का प्रथम सम्राट् है। जो राष्ट्र छिन्न-भिन्न और पराधीन हो गया था उसमें चन्द्रगुप्त ने नयी प्राण-चेतना जगायी थी। उसने पश्चिमोत्तर प्रदेश की यवन, काम्बोज, पारसीक, सबर और म्लेच्छ कहलाने वाली जातियों की सेना तैयार की थी। अनेक युद्धों के सफल अभियान से सम्पूर्ण भारत को एक विशाल साम्राज्य के रूप में संगठित एवं संचालित किया था। विन्सेंट स्मिथ ने अपने इतिहास में लिखा है—

"दो हजार साल से भी अधिक हुए, भारत के प्रथम सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य ने इस देश की उस वैधानिक सीमा को प्राप्त कर लिया था जिसकी लालसा में शताब्दियो बाद का ब्रिटिश साम्राज्य आहें भरता रहा और जिसे सोलहवीं-सत्रहवीं सदियों के मुगल सम्राटों ने भी कभी पूर्णता से प्राप्त नहीं किया।"

जैनेतर स्रोतों में कौटिल्य-अर्थशास्त्र के रचियता चाणक्य के सम्बन्ध में एक प्रसंग इस प्रकार आता है :

चाणक्य ने अनेक बार चन्द्रगुप्त के प्राणों की रक्षा की। भारतीय इतिहास का वह ऐसा समय था जब राजशासन द्वारा किन्हीं-किन्हीं अत्यन्त रूपवती कन्याओं का लालन-पालन इसप्रकार किया जाता कि उनके आहार-पान मे धीरे-धीरे विष का संचार होता रहे, और वे विष का प्रभाव इस सीमा तक ग्रहण करती चली जायें कि स्वयं दोष से मुक्त रहे, किन्तु जो व्यक्ति उनके संसर्ग में आये उस पर विष का प्रभाव छा जाये। नन्द राजा के मन्त्री ने षड्यन्त्र किया कि इस प्रकार की एक विषकन्या को विजय-अभियान से लौटते हुए चन्द्रगुप्त के रथ के आगे भेज दें। किन्तु विष-कन्या जब चन्द्रगुप्त के रथ के सामने आयी तो चाणक्य ने उसे चन्द्रगुप्त के रथ पर बैठने से रोक दिया और चन्द्रगुप्त के साथी राजा पर्वतक को आज्ञा दी कि इस रूपवती तरुणी को वह स्वीकार करे। राजा पर्वतक चन्द्रगुप्त के आक्रमणों का सहयोगी था, इसलिए उसे आधे राज्य का स्वामी होना था। पर्वतक ने ज्यों ही अदम्य-आवेग में विषकन्या का हाथ पकड़ा, विषकन्या के पसीजे हुए हाथ का पसीना उसे लग गया जिससे पर्वतक पर तत्काल विष का प्रभाव पड़ने लगा। धीरे-धीरे उसका कण्ठ सूखने लगा। उसने चन्द्रगुप्त को सहायता के लिए पुकारा। चन्द्रगुप्त ने विष दूर करने वाले वैद्यों को तत्काल बुलाना चाहा किन्तु विष का प्रभाव इस सीमा तक बढ़ गया था कि कोई भी उपचार नहीं किया जा सका। इतिहासकारों ने चाणक्य के इस व्यवहार का यह अर्थ लगाया कि चन्द्रगुप्त की प्राणरक्षा के लिए यह आवश्यक था कि विषकन्या पर्वतक के पास जाये, क्योंकि राजनीति के नियम के अनुसार जब दो राजा आधे-आधे राज्य के अधिकारी होते हैं तो एक न एक दिन आपस में उनमें युद्ध ठनता ही है।

इस प्रसंग में चन्द्रगुप्त और चाणक्य की कथा में एक विचित्र उल्लेख है कि चाणक्य ने भविष्य में विषकन्याओं के प्रभाव से चन्द्रगुप्त को सुरक्षित रखने के लिए यह व्यवस्था कर ली थी कि चन्द्रगुप्त के आहार में धीरे-धीरे विष की मात्रा बढ़ती रहे और वह विष का इतना अभ्यस्त हो जाये कि यदि कोई विषकन्या उसके सम्पर्क में आये तो भी चन्द्रगुप्त सुरक्षित रहे। चन्द्रगुप्त जिस प्रकार विष के प्रभाव से सुरक्षित था, उसकी कथा इस प्रकार है :

सम्राट् चन्द्रगुप्त एक दिन आहार कर रहे थे कि उस समय उनकी गर्भवती राजमहिषी के मन में दोहद उत्पन्न हुआ कि वह सम्राट् के साथ भोजन करे। अपनी प्रबल इच्छा के कारण महारानी ने चन्द्रगुप्त की थाली में से भोजन का एक कौर उठाकर खा लिया। भोजन में मिले हुए विष का प्रभाव महारानी के शरीर पर छा गया और वह अचानक मूर्छित हो गईं। महाराज चन्द्रगुप्त ने महारानी की प्राण-रक्षा का पूर्ण प्रयत्न किया, किन्तु वे महारानी की आकस्मिक अस्वस्थता का कारण न जान सके। चाणक्य समझते थे कि महारानी के अचानक रोग-ग्रस्त होने का वास्तविक कारण क्या है। चाणक्य ने तत्काल शल्य-चिकित्सा का प्रबन्ध किया और गर्भ में स्थित बालक को निकलवाकर उसके प्राण बचा लिये गये। महारानी की मृत्यु हो गई। माँ ने जो विषैला भोजन खाया था, उसका प्रभाव बालक पर कुछ विशेष नहीं हुआ, केवल उसके माथे पर एक नीला निशान बन गया। ललाट पर उभरे नीले बिन्दु के कारण चन्द्रगुप्त ने बालक का नाम बिन्दु-सार रखा।

इतिहास में बिन्दुसार अपने राज्य-विस्तार के लिए और जैनधर्म की प्रभावना के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध हैं, किन्तु अभी हम केवल चन्द्रगुप्त मौर्य की ही बात कर रहे हैं।



2

संस्कृति के शिलापट पर इतिहास की आत्मकथा

मानव-सभ्यता के आदिकाल की जिस पौराणिक पृष्ठभूमि का वर्णन हमने प्रारंभिक खण्ड में किया है, चक्रवर्ती सम्राट् भरत का वह युग हमें आधुनिक इतिहास की दसवी शताब्दी के उस बिन्दु से जोड़ता है, जब दक्षिण कर्नाटक के प्रसिद्ध सेनापति चामुण्डराय ने भगवान बाहुबली की विशाल मूर्ति की स्थापना श्रवणबेलगोल में विन्ध्यगिरि पर की। *यही श्रवणबेलगोल हमें ले जाता है भारतीय* इतिहास के उस स्वर्णिम अतीत में, जब आधुनिक भारत के प्रथम सम्राट्, चन्द्रगुप्त मौर्य अपने पूज्यपाद गुरु श्रुतकेवली भद्रबाहु के शिष्य के रूप में यहाँ चन्द्रगिरि पर्वत पर तपस्या करने आये और यहीं पर गुरु-शिष्य ने समाधिमरण किया।

भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त दोनों इतिहास-पुरुष हैं। प्राचीन शास्त्रों और लोकगाथाओं मे हजारों वर्ष से समाविष्ट उनके जीवन की कथा का ऐतिहासिक प्रमाण मिलता है सम्राट् चन्द्रगुप्त के नाम से प्रसिद्ध चन्द्रगिरि पहाड़ी के उस प्राचीन शिलालेख मे, जो लगभग छठी शताब्दी में उत्कीर्ण किया गया था, भगवान बाहुबली की मूर्ति की प्रतिष्ठा से लगभग चार सौ वर्ष पूर्व।

चन्द्रगिरि पर्वत का शिलालेख इतना महत्वपूर्ण है कि उसका पूरा पाठ प्रस्तुत करना, उसकी कथा का विश्लेषण करना, प्रत्येक इतिहासप्रेमी, साहित्यप्रेमी और धर्मप्रेमी व्यक्ति के लिए आवश्यक है।

इस प्रयोजन से हमने चार काल्पनिक पात्रों के एक दल को अध्ययन का साधन बना लिया है जो एक अन्वेषक दल के रूप में दक्षिण भारत की अपनी सांस्कृतिक यात्रा के उद्देश्य से श्रवणबेलगोल की चन्द्रगिरि पहाड़ी पर आ पहुँचा है। सुविधा के लिए इन्हें कोई भी नाम दिये जा सकते हैं। किन्तु हम प्रत्येक के ज्ञान-गुण के आधार पर अलग-अलग नाम इस प्रकार देंगे :

वाग्मी : प्राचीन कन्नड़ के ज्ञाता। संस्कृत, प्राकृत के विद्वान्।

पुराविद् : इतिहास और पुरातत्त्व के प्रसिद्ध विद्वान्।

श्रुतज्ञ : जैन-तत्त्वज्ञान के मर्मज्ञ।

अनुगा : शोध-कार्य में रुचि लेने वाली एक विश्वविद्यालयीय छात्रा।

जैसाकि इनके परिचय से स्पष्ट है, हम मान लेते हैं कि इस दल के काल्पनिक सदस्यों ने अपने-अपने विषय के दृष्टिकोण से कर्नाटक के साहित्य, इतिहास, कला-पुरातत्त्व और सामाजिक मान्यताओं का अध्ययन पुस्तकों के माध्यम से कर लिया है। वे जानते हैं कि :

- कर्नाटक का प्राचीन साहित्य श्रमण मुनियों और जैन धर्मानुयायी पण्डितों की देन है।
- उन्हें मालूम है कि कन्नड़ भाषा और व्याकरण का प्राथमिक स्वरूप प्राचीन जैन विद्वानों ने निश्चित किया है।
- वे पढ़ चुके हैं कन्नड़ का वह अधिकांश पुराण और कथा-साहित्य, जो जैन तीर्थंकरों, आचार्यों और धार्मिक पुरुषों के कथानकों पर निर्मित हुआ है।
- जैन तत्त्वज्ञान के मूल सिद्धान्त तथा श्रावकों और श्रमणों के आचार का उन्हें बोध है।

यह दल अब प्रत्यक्ष देखना चाहता है इतिहास के जीवन्त प्रमाण जो कर्नाटक के पर्वतों, गुफाओं, शिलालेखों, मन्दिरों, मानस्तम्भों तथा भण्डारों में सुरक्षित ताड़पत्रों पर लिखे प्राचीन शास्त्रों के रूप में उपलब्ध हैं।

अब हम स्वयं भी कल्पना में इस दल के साथ हैं।

[श्रवणबेलगोल के चन्द्रगिरि पर्वत पर पार्श्वनाथ बसदि के दक्षिण की ओर स्थित एक शिलालेख 'फ्लैश लाइट' (आलोक-संपात) में स्पष्ट दिखाई दे रहा है। पण्डित वाग्मी उसका एक अंश पढ़ रहे हैं]

वाग्मी : 'विविध-तरुवर-कुसुमदलावलि-विरचना-शबल-विपुल-सजल-जलद-निवह-नीलोत्पल-तले, वराह-द्वीपि-व्याघ्र-वृक-तरक्षु-व्याल-मृगकुल-उपचित-उपत्यक-कन्दर-दरी-महागुहा-गहनाभोगवति समुत्तुंगशृंगे शिखरिणि…'

अनुगा : पण्डितजी, कितना सुन्दर पढ़ते हैं आप, इस प्राचीन कन्नड़ लिपि को।

वाग्मी : बिटिया, मेरा पढ़ना क्या ? सुन्दर तो है इस शिलालेख का काव्य, इसकी सरस, सरल, प्रवाहमय भाषा, जो सुन्दरतम शब्दावलि में चित्र पर चित्र बनाती चलती है।

पुराविद् : सच बात तो यह है कि इस ललित पदावलि में कर्नाटक का समूचा प्राकृतिक वैभव बोल रहा है। ये सब विविध प्रकार के सुन्दर वृक्ष, ये झूमती हुई फूलों भरी डालियाँ…(रुककर, वाग्मी से) वाग्मीजी, यह क्या वर्णन है ? 'शबल-विपुल-सजल-जलद नीलोत्पल-तले…'

श्रुतज्ञ : अर्थ स्पष्ट होगा यदि ऊपर की पंक्ति भी पढ़ लें और उसे इसके साथ

मिला लें—'**अवनितल-ललामभूते अस्मिन् कटवप्र-नामक-उपलक्षिते**' अर्थात् समस्त पृथ्वी तल का शृंगार है यह कटवप्र पर्वत। कटवप्र नाम है इस चन्द्रगिरि पहाड़ी का जिसे चिक्कबेट्ट (छोटी पहाड़ी) भी कहते हैं। इसे ही कहते हैं, तीर्थगिरि और ऋषिगिरि।

वाग्मी : निःसन्देह। आपने अच्छा संकेत दिया, श्रुतज्ञजी। आलेख में वर्णन है कटवप्र की इन शिलाओं का। देखिए, कैसी सुन्दर उपमा है—शिलाएँ श्यामल हो गई हैं, विपुल जल से भरे बादलों की भाँति। नाना प्रकार के वृक्षों पर खिले फूलों और पत्तों की पंक्ति-रचना ने इन्हें रंग-बिरंगा बना दिया है। फैले हुए हैं पठार और घाटियाँ, जिनमें हैं—कन्दराएँ, बड़ी-बड़ी गुफाएँ। दुर्गम स्थान पर विचर रहे हैं वराह, चीते, शेर, रीछ, भालू, साँप और मृग-दल।

अनुगा : बहुत सुन्दर! पण्डितजी, और पढ़ियेगा! यह हुआ प्रकृति का चित्रण। ग्राम, नगर और जन-गण के विषय में भी कुछ कहा है?

पुराविद् : वाग्मीजी, अनुगा को बीच में से यह पंक्ति सुनाइये। (**संकेत से बताते हैं**)

वाग्मी : हाँ, यह है—'**क्रमेणैव जनपदम्, अनेक-ग्राम-शत-संख्यम्, मुदित-जन-धन-कनक-सस्य-गो-महिषा-जावि-कुल-समाकीर्णम्।**'
अर्थ है—कर्नाटक का यह जनपद जिसके सैकड़ों गाँवों में रहते हैं प्रसन्न मन वाले मनुष्य, जिनके पास धन है, धान्य है, सोना है, गाय और भैंसों का दल है; बकरियाँ हैं, भेड़ें हैं।

अनुगा : गाय, भैंस, सोना! और, भेड़-बकरियाँ भी!

श्रुतज्ञ : पुराविद्जी, आपने ध्यान दिया होगा, यह वर्णन किस शब्द से प्रारम्भ होता है? '**क्रमेणैव जनपदम्**...' और वाग्मीजी ने जो अन्तिम शब्द अभी नहीं पढ़ा—वह है, '**प्राप्तवान्**' अर्थात् क्रम-क्रम से जनपद, नगर-ग्राम होते हुए इस कटवप्र स्थान पर पहुँचे। प्रश्न है, कौन पहुँचे?

अनुगा : अच्छा, यह तो कोई कथा उभर आयी इस शिलालेख में?

पुराविद् : हाँ अनुगा, यह ऐसी कथा है जो भारतीय इतिहास का स्वर्णिम अध्याय है। मैं इस कथा को जानता हूँ किन्तु इसका प्रमाण देखना चाहता था, सो यहाँ आकर मिल गया। वाग्मीजी, ज़रा पढ़िये तो ऊपर का यह अंश जिसका सम्बन्ध '**प्राप्तवान्**' से है—कि 'वह यहाँ पहुँचे।'

वाग्मी : '**सर्वसंघ उत्तरापथात् दक्षिणापथं प्रस्थितः क्रमेणैव जनपदम् अनेक-ग्राम**'...इत्यादि यह मैं पढ़ चुका हूँ। '**समाकीर्णं प्राप्तवान्।**'

पुराविद् : मिल गया कथा का मूल सूत्र—'उत्तरापथ से दक्षिण की ओर बढ़ते हुए क्रम-क्रम से जनपद, नगर, ग्राम पार करते हुए—यहाँ इस कटवप्र

पर्वत पर आ पहुँचे। अब, वाग्मीजी ज़रा और ऊपर से इस लेख को पढ़ लें—यहाँ पहुँचने वाले महापुरुष का नाम स्पष्ट हो जायेगा। कथा का संकेत भी मिल जायेगा।

वाग्मी : **'गुरु-परम्परीण-क्रमाभ्यागत-महापुरुष - सन्तति - समवद्योतित-अन्वय-भद्रबाहु-स्वामिना उज्जयन्याम् अष्टांग - महानिमित्त - तत्त्वज्ञेन, त्रैकाल्य-दर्शिना निमित्तेन द्वादश-संवत्सर-कालवैषम्यम् उपलभ्य कथिते सर्वस्संघ उत्तरापथाद् दक्षिणापथम् प्रस्थितः।'**

श्रुतज्ञ : हाँ, यही कथा है जैन शास्त्रों और पुराणों में।

पुराविद् : श्रुतज्ञजी, यहाँ तो वह पौराणिक कथा इतिहास के स्वरों में पर्वत के हृदय से बोल रही है।

अनुगा : इसका अर्थ तो बताइये, वाग्मीजी।

वाग्मी : सुनो। "प्राचीन गुरु-परम्परा के क्रम में जिन महापुरुष का नाम आचार्यों की नामावलि में आता है उन त्रिकालदर्शी अष्टांग महानिमित्त के ज्ञानी आचार्य भद्रबाहु स्वामी के निमित्त-ज्ञान में यह सूचना प्रकट हुई कि—

'उज्जयिनी मे, (जहाँ वह धर्मोपदेश कर रहे थे, और समस्त उत्तरांचल में), बारह वर्ष का वैषम्य अर्थात् अकाल पड़ने वाला है। इसलिए वे अपने संघ को उत्तरापथ से दक्षिण की ओर ले गये, क्रम-क्रम से यात्रा करते हुए यहाँ पहुँचे।"

अनुगा : सारा संघ यहाँ आकर रुक गया?

पुराविद् : नहीं··। कथा का वह अंश भी इसी शिलालेख में होना चाहिए। शिलालेख के अन्त में क्या लिखा है, वाग्मीजी?

वाग्मी : **समुत्तुंगशृंगे शिखरिणि जीवित-शेषम् अल्पतरं कालम् अवबुध्य, आत्मनः सुचरित-तपस्समाधिम् आराधयितुम् आपृच्छ्य, निरवशेषेण संघं विसृज्य शिष्येण एकेन, प्रथुलतर-आस्तीर्ण-तलासु शिलासु शीतलासु स्वदेहं संन्यस्य आराधितवान्, क्रमेण सप्त-शतम् ऋषीणाम् आराधितम् इति।**

यहाँ पर यह स्पष्ट कर दूँ कि **'शिष्येण एकेन'** का संदर्भ है उस पंक्ति में जो प्रारम्भ होती है **'अतः आचार्यः प्रभाचन्द्रो नाम अवनितल-ललामभूते'**···आदि जो कह चुका हूँ।"

श्रुतज्ञ : यह सुनकर तो मेरा हृदय गद्‌गद हो गया है। वाग्मीजी, इसका अर्थ मैं बता दूँ अनुगा को?

वाग्मी : अवश्य, आपकी तो भावनाओं में यह कथा रसी-बसी है।

श्रुतज्ञ : मैं विशेष रूप से इसलिए यह सब कह रहा हूँ कि इस कथा के इस अंश

को मैंने अपने आधुनिक शैली के खण्ड-काव्य में इस प्रकार निबद्ध किया है—

कटवप्र के उत्तुंग शिखर पर
आ रुके हैं त्रिकालदर्शी आचार्य भद्रबाहु।
जान गये हैं निमित्त-ज्ञान से वह
कि अल्प रह गई है आयु शेष,
समय है निकट, कर्मों की निर्जरा का,
समाधि में तल्लीनता का।
छोड़ दिया उन्होंने संघ को,
कर दिया विदा समग्र शिष्यमंडली को
कि बढ़ जाये वह आगे,
नये आचार्य की अनुज्ञा में।
साथ रह गया है केवल एक शिष्य
दीक्षा नाम प्रभाचन्द्र,
(इतिहास-नाम सम्राट् चन्द्रगुप्त)।
गुरु की सेवा का एकाकी पुण्य अवसर
छोड़ा नहीं उस साम्राज्य-त्यागी ने।
सम्यक् चारित्र की आराधना से सदा पवित्र
बैठ गये गुरु, विस्तीर्ण शिलाओं के
शीतल पटल पर, संन्यास धारण कर,
समाधिमरण हेतु।
कालान्तर में इसी कटवप्र से
समाधि प्राप्त की सात सौ ऋषियों ने।

अनुगा : कितना पवित्र है गिरिशृंग! बार-बार नमस्कार करने को मन होता है।

श्रुतज्ञ : मेरा मन अटक गया है शिलालेख की पहली पंक्ति पर, उसके पहले दो शब्दों पर :
'सिद्धं स्वस्ति'।

अनुगा : दोनों शब्द कितने अर्थपूर्ण हैं। 'सिद्धं, अर्थात् सब कार्य सिद्ध हों और 'स्वस्ति' अर्थात् सबका कल्याण हो।

श्रुतज्ञ : इसको यों समझना चाहिए कि 'सिद्ध' अर्थात् सिद्ध भगवान को नमस्कार हो। सिद्ध का अर्थ सिद्ध परमेष्ठी। जैन-धर्म की परम्परा का है यह शब्द।
शिलालेख का पहला श्लोक भगवान महावीर की श्रद्धा-स्मृति में है।

वाग्मीजी, देखिये इसे।

वाग्मी : (पढ़ते हैं)

जितम्भगवता श्रीमद्-धर्म-तीर्थ-विधायिना।
वर्द्धमानेन सम्प्राप्त-सिद्धि-सौख्यामृतात्मना॥

श्रुतज्ञ : अर्थात् "जो श्रीमान् धर्म-तीर्थ के विधायक हैं और जिनकी आत्मा ने सिद्धि-सौख्य के अमृत को प्राप्त कर लिया है ऐसे भगवान वर्धमान की जय।"

पुराविद् : वाग्मीजी, जब आप प्रारम्भ के अंश पर आ ही गये तो आगे का वह गद्य भाग भी पढ़ दीजिये जिसमें भगवान महावीर के उपरान्त उनके गणधर-शिष्यों की परम्परा का उल्लेख है।

वाग्मी : भगवान महावीर की शिष्य परम्परा गौतम गणधर से भद्रबाहु स्वामी तक क्रमबद्ध रूप में यहाँ दी गई है। इसे पढ़े देता हूँ, किन्तु जिनके शिष्यों की पट्टावली यहाँ दी गई है उन भगवान महावीर का काव्यमय वर्णन तो पहले देख लीजिये :

"अथ खलु सकल-जगद्-उदय-करणोदित-निरतिशय-गुणास्पदीभूत-परमजिन-शासन-सरस्समभिवर्द्धित-भव्यजन-कमलविकसन-वितिमिरगुण-किरण-सहस्र-महोति-महावीर-सवितरि परिनिर्वृते।"

श्रुतज्ञ : भगवान महावीर की उपमा यहाँ सूर्य से दी गई है—सूर्य जैसे सारे जगत् में प्रकाशोदय को सम्पन्न करने वाला है, वैसे ही भगवान महावीर सकल जगत् का उदय, आत्मा का अभ्युदय, करने वाले हैं। जिस प्रकार सूर्य कमलों को विकसित करता है, उसी प्रकार भगवान महावीर भव्य जनों के हृदय-कमल को विकसित कर देते हैं। कमल जिस प्रकार सरोवर में खिलते हैं, उसी प्रकार भव्यजन के मन भगवान जिनेन्द्र की वाणी के सरोवर में प्रफुल्ल रहते हैं। सूर्य जैसे अस्त होता है, उसी प्रकार गुणों की सहस्र किरणों का प्रसार करने वाले भगवान महावीर का परिनिर्वाण होने पर…

अनुगा : शिलालेख में तो आगे अनेक नाम पढ़े जा सकते हैं।

पुराविद् : हाँ, यही शिलालेख का ऐतिहासिक अंश है। वाग्मीजी इसे सुनायेंगे।

वाग्मी : इसमें जो लिखा है उसका सन्धि-विच्छेद करके पढ़ रहा हूँ।

'भगवत्-परम-ऋषि-गौतम-गणधर-साक्षात्-शिष्य-लोहार्य्य-जम्बु-विष्णुदेव-अपराजित-गोवर्द्धन-भद्रबाहु-विशाख-प्रोष्ठिल-कृत्तिकार्य्य-जयनाम-सिद्धार्थ-धृतिषेण-बुद्धिल-आदि-गुरुपरम्परीण-क्रम-अभ्यागत-महापुरुष-सन्तति-समवद्योतित-अन्वय-भद्रबाहु-स्वामिना उज्जयिन्याम्...'

श्रुतज्ञ : हाँ ठीक, भगवान् परम ऋषि गौतम गणधर के साक्षात् शिष्य लोहार्य फिर जम्बु, फिर विष्णुदेव, फिर अपराजित आदि के नाम गुरु-शिष्य-परम्परा के क्रम से भद्रबाहु-स्वामी तक गिना दिये हैं और लिखा है कि यह गुरु-शिष्य परम्परा, सन्तान की तरह, इस नामावलि में सदा द्युतिमान् है।

अनुगा : भद्रबाहु स्वामी के नाम के साथ ही उस कथा का संदर्भ आ गया है जिसे आपने पहले इसी शिलालेख से पढ़कर बताया कि भद्रबाहु स्वामी ने अष्टांग-निमित्तज्ञान से जाना कि उत्तराखंड में बारह वर्ष का अकाल पड़ने वाला है आदि।

पुराविद् : यह यहाँ का प्राचीनतम शिलालेख है—छठी शताब्दी का। और, है सबसे महत्वपूर्ण। 'शिलालेख संग्रह' में इसका पहला क्रमांक है।

अनुगा : मेरा सौभाग्य है कि आप सबकी कृपा से अब मैं यह समूचा शिलालेख पढ़ सकती हूँ। इसका पूरा अर्थ भी स्पष्ट हो गया है।

वाग्मी : स्वयं चन्द्रगुप्त मौर्य का इतिहास-काल, भद्रबाहु स्वामी की दक्षिण-यात्रा, श्रवणबेल्गोल की पावन भूमि की प्राचीनता, भद्रबाहु स्वामी की तपस्या और समाधिमरण की पुण्य-स्थली, और 700 मुनियों के समाधिमरण का स्मारक यह तीर्थ!

पुराविद् : और, प्रकृति का हृदयग्राही वर्णन, काव्य का चमत्कार, भाषा का प्रवाह...

श्रुतज्ञ : और, महत्वपूर्ण बात यह कि उत्तर और दक्षिण भारत को संस्कृति के एक सूत्र में गूंथने वाली ऐतिहासिक कथा का जीवन्त प्रमाण।

अनुगा : शिलालेख के अन्त मे लिखा है जिसे मैं भी पढ़ सकती हूँ—
"जयतु जिनशासनम् इति।"



3

जैन संस्कृति की सार्वभौमिकता के संवाहक आचार्य भद्रबाहु

राजनीति से विरत होकर अन्त में चाणक्य ने स्वयं मुनि दीक्षा ले ली—इस कथा से हम परिचित हो चुके हैं।

सम्राट् चन्द्रगुप्त का क्या हुआ ? वह 25 वर्ष की आयु में सिंहासन पर बैठे। उन्होंने लगभग 44 वर्ष की आयु में अपने पुत्र बिन्दुसार का राज्याभिषेक कर दिया, और स्वयं मुनिधर्म में दीक्षित हो गये। उनके दीक्षा-गुरु थे आचार्य भद्रबाहु।

जिस प्रकार साम्राज्य-संस्थापना के लिए चाणक्य ने बालक चन्द्रगुप्त को खोज लिया था, उसी प्रकार भद्रबाहु* को खोज निकाला था उनके गुरु श्रुतकेवली गोवर्धनाचार्य ने—भगवान महावीर के गणधर गौतम स्वामी की आचार्य परम्परा को अक्षुण्ण रखने के लिए, कल्याणकारी धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए।

श्रवणबेलगोल के पाषाण-फलकों में उत्कीर्ण इतिहास

भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त की कथा प्राचीन जैन शास्त्रों और पुराने अभिलेखों में

---

*यहाँ यह उल्लेखनीय है कि भद्रबाहु नाम के कई आचार्य हुए हैं अतः जिन भद्रबाहु आचार्य का संदर्भ हमने दिया है उनकी काल गणना अथवा पट्टावली के विषय में दिगम्बर तथा श्वेताम्बर आम्नायों की मान्यता में भेद है।

इसी से संबंधित यह तथ्य भी है कि भद्रबाहु का आचार्यत्व-काल दोनों आम्नायों में तो भिन्न है ही, ऐतिहासिक काल-गणना के अनुसार भी अन्तर है। विद्वान शोध-खोज में अभी भी लगे हुए हैं।

दिगम्बर मान्यता आचार्य-काल	श्वेताम्बर मान्यता आचार्य-काल	इतिहाससम्मत मान्यता चन्द्रगुप्त मौर्य का राज्य
वी० नि० सं० 133 से 162	वी० नि० सं० 156 से 170	
ई० पू० 394 से 365	ई० पू० 371 से 357	ई० पू० 321 से 298

श्वेताम्बर मान्यता को आधार मानकर समीकरण के समीप पहुँचा जा सकता है।

—डा० हीरा लाल जैन की टिप्पणी के आधार पर

तो उपलब्ध है ही, इस कथा का एक ऐतिहासिक आधार भी मिला है—श्रवणबेल्गोल के चन्द्रगिरि पर्वत पर स्थित चन्द्रगुप्त बसदि (मन्दिर) के पाषाण-फलकों पर। वहाँ यह कथा मूर्ति-चित्रों के रूप मे फलकों पर उत्कीर्ण है।

घटनाओं का क्रम जिस रूप में उत्कीर्ण है उनका उसी क्रम से वर्णन करते हुए हम उससे सम्बन्धित फलक का क्रमांक भी कोष्ठक में देते जा रहे हैं।

गोवर्धनाचार्य और भद्रबाहु

श्रुतकेवली गोवर्धनाचार्य कुण्डवर्धन नगर के एक उद्यान में विराजमान हैं। एक भक्त उनकी अर्चना कर रहा है (फलक-1)। कुण्डवर्धन की प्रजा सुख-शान्ति-पूर्वक रह रही है (2)। नगरी में उत्साहपूर्ण चर्चा है कि दिगम्बर मुनि गोवर्धनाचार्य पधारे हैं (3)। वरिष्ठ नागरिक उनकी अभ्यर्थना के लिए निकल पड़े (4)। पीछे-पीछे आचार्य के शिष्यों की मण्डली आ पहुँची (5)। मुनिसंघ के आगमन की चर्चा राजपुरुषों और सेवकों में भी पहुँची (6)। सबने मुनिसंघ का स्वागत किया (7-8) और तब आचार्य ने नगर-जनों को धर्म-चर्चा का लाभ दिया (9)। स्वागत करने वाले व्यक्ति मुनिसंघ का घेरा बनाकर अगवानी करते हुए चल पड़े (10)। मुनिसंघ उन स्वागतकर्त्ताओं के पीछे-पीछे प्रस्थान करने लगा (11)। तभी एक राजपरिवार मुनियों की अभ्यर्थना के लिए आ पहुँचा (12)। वह भक्ति से आचार्य महाराज के चरणों की पूजा करके संघ के साथ हो गया (13)। मुनिसंघ अब आगे बढ़ गया (14)। वन का अधिकारी मुनिसंघ के अचानक आगमन से विस्मित हो गया (15)। मुनिसंघ को मार्ग बताने के लिए स्वयं वनदेवता आ गये। उन्होंने वनपालक को आदेश दिया कि मार्ग के वृक्ष काटकर साफ कर दें। मार्ग मे पड़ने वाले वृक्ष काटे जाने लगे (16)। वन-पालक मार्ग-शोधन में लग गये। आचार्य ने उनको वृक्ष काटने से रोका (17)। तब तक वन-पालक ने अन्तिम पेड़ काटकर मार्ग साफ कर दिया। आचार्य का मन खिन्न हुआ (18)। गोवर्धनाचार्य एक मन्दिर के सामने ध्यानस्थ बैठ गये (19)।

तदुपरान्त मुनिसंघ आगे बढ़ा (20)। अनेक राजपुरुष और प्रजागण उनकी अगवानी करने को आ उपस्थित हुए। ये सब कोटिपुरवासी उन साधुओं की वन्दना में मग्न हो गये (21)। कोटिपुर के राजा पद्मधर का उत्तुंग भवन शोभित था (22)। यहाँ के निवासी मुनि-भक्त थे (23)। गोवर्धनाचार्य वनपालक के साथ कोटिपुर के उपान्त में पहुँचे (24)। आचार्य की शान्त मुद्रा को देखकर शिकारी लोग भी समूह में सम्मलित हो गये (25)। तभी एक दम्पती ने आकर आचार्य महाराज की अर्चना की (26)। मुनिसंघ ने आगे गमन किया (27) और, अगवानी करने वाले साथ-साथ चल पड़े (28)। तभी मुनिसंघ को एक मन्दिर दिखायी दिया (29)। कोटिपुर के निवासियों का दैनिक जीवन शान्तिपूर्ण था

(30)। मुनिसंघ आगे-आगे बढ़ता गया (31)। उसने कोटिपुर के समीपवर्ती मन्दिर में विश्राम किया (32)। कोटिपुर के ब्राह्मण सोम शर्मा और पत्नी सोमश्री के बालक का नाम था भद्रबाहु (33)। सोमशर्मा इतने ज्ञानी थे और उनका इतना मान था कि राजपुरुष भी उनके पास आते थे (34)। अभ्यागतों को आते देखा तो उनकी पत्नी सोमश्री स्वागत के लिए उद्यत हुई (35)। तभी समाचार आया कि श्रुतकेवली गोवर्धनाचार्य का केशलोंच प्रारम्भ हो गया है। समाचार सबके लिए हर्षदायक हुआ। धर्म की प्रभावना हुई (36)।

एक दिन विहार करते हुए आचार्य गोवर्धन ने एक बालक को खेलते हुए देखा। आचार्य गोवर्धन ने बालक के लक्षण देखकर निमित्त-ज्ञान से जाना कि यही उनकी आचार्य और शिष्य-परम्परा में पाँचवाँ श्रुतकेवली भद्रबाहु होगा (37)। गोवर्धन आचार्य ने भद्रबाहु की शिक्षा का पूरा दायित्व ले लिया (38)। भद्रबाहु गोवर्धन आचार्य के साथ संघ में प्रविष्ट हो गये। धीरे-धीरे शास्त्रों के ज्ञान में वे निष्णात हो गये (39)।

समय बीतने पर भद्रबाहु ने गोवर्धनाचार्य से मुनिदीक्षा ली। मुनिचर्या के अनुसार वे आहार-विहार करने लगे (40)। भद्रबाहु के गुणों और तपस्या के कारण उनके अनेक शिष्य बन गये और सर्वत्र उनका स्वागत होने लगा (41)।

आचार्य भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त मौर्य

विहार करते हुए भद्रबाहु एक दिन उज्जयिनी पहुँचे और वहाँ एक उद्यान में ठहर गये। भद्रबाहु को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि वहाँ उद्यान में एक कोटपाल लेटा हुआ है और आने-जाने वालों पर दृष्टि रख रहा है (42)। राजाज्ञा थी कि कोटपाल वहाँ से विचरने वाले गुप्तचरों से सावधान रहे (43)। कोटपाल ने भद्रबाहु को गुप्तचर समझकर अपने नियन्त्रण में ले लिया (44)। भद्रबाहु उपसर्ग के कारण ध्यानस्थ हो गये। देवी पद्मावती के प्रभाव के कारण कोटपाल वहाँ से अदृश्य हो गया (45)। कोटपाल को इस प्रकार विलुप्त देखकर वहाँ आये हुए अनुचरों को आश्चर्य और आतंक हुआ। वे राजदरबार में पहुँचे (46)। सम्राट् चन्द्रगुप्त उस समय उज्जयिनी के महाराज थे। जिसने भी यह समाचार सुना वह विस्मय में पड़ गया (47)। इतने में उद्यान में अन्य राजसेवक भी आ पहुँचे और उन्होंने प्रहरियों से प्रार्थना की कि उनको तत्काल सम्राट् के समीप पहुँचा दिया जाए ताकि वे स्वयं भी आगे के समाचार दे सकें (48)। उज्जयिनी समृद्ध नगरी थी। नागरिकों का जीवन बहुत सुखी और शान्त था। वहाँ का व्यापार और शिल्प उन्नति पर थे (49)। चन्द्रगुप्त सम्राज्ञी के साथ अपने राजपुरुषों और सेवकों के दल सहित आचार्य भद्रबाहु का स्वागत करने के लिए आगे बढ़े (50)। सब गुरुओं को प्रणाम किया। सेवक भी भक्तिपूर्वक विनम्र और आनन्दित हुए (51)।

भद्रबाहु ने सबको धर्मलाभ दिया (52)। सम्राट् चन्द्रगुप्त और महारानी ने मुनि-संघ से आहार ग्रहण करने के लिए निवेदन किया (53)। चन्द्रगुप्त ने राजपुरुषों को साथ ले मुनियों को आहार दिया (54)। इसी अवसर पर वहाँ एक अन्य मुनिसंघ आ पहुँचा और दोनों संघों का मिलन हुआ (55)। सेवकों सहित चन्द्रगुप्त और सम्राज्ञी ने आचार्य भद्रबाहु के चरणों की अर्चना की (56)। सम्राट् चन्द्रगुप्त भद्रबाहु की तपस्या और उनके ज्ञान से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने भद्रबाहु को अपना गुरु मान लिया।

एक दिन आचार्य भद्रबाहु आहार के लिए निकले और जब एक भवन के द्वार में प्रवेश किया तो उन्होंने एक शिशु को चिल्लाते हुए सुना—"जाओ, जाओ"। आचार्य भद्रबाहु ने निमित्त-ज्ञान से विचार किया कि बालक की बात का अर्थ है कि उन्हें यह क्षेत्र छोड़ देना चाहिए। उन्होंने सोचा जब यह बालक बोल ही रहा है तो उससे प्रश्न भी किया जा सकता है। प्रश्न का उत्तर मिला—बारह वर्ष, और आचार्य भद्रबाहु के निमित्त-ज्ञान में अर्थ स्पष्ट हुआ कि बारह वर्ष का भीषण अकाल पड़ने वाला है। वे निराहार लौट गये।

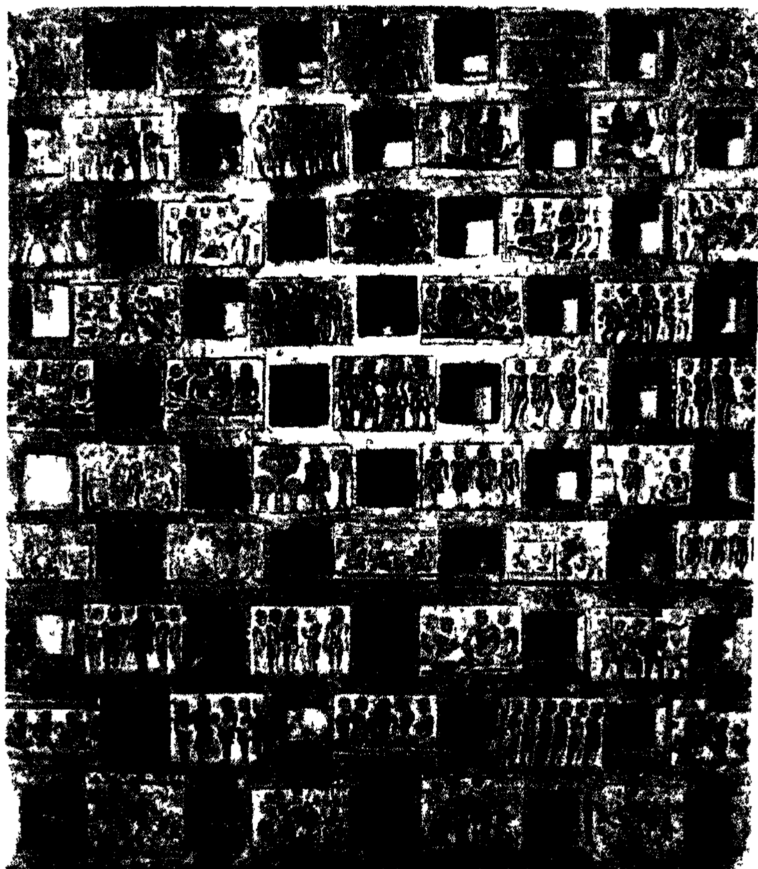
निमित्त-ज्ञान के इस निष्कर्ष के साथ जुड़ी है एक अन्य घटना जिसने भद्रबाहु के इस निर्णय की सम्पुष्टि दी। यह घटना भी पाषाण-फलकों में चन्द्रगुप्त बसदि में उत्कीर्ण है :

एक रात चन्द्रगुप्त वात-पित्त-कफ आदि रोगों से रहित स्वस्थ अवस्था में सोये हुए थे कि रात्रि के पिछले पहर मे उन्होंने सोलह स्वप्न देखे। स्वप्नक्रम इस प्रकार है—

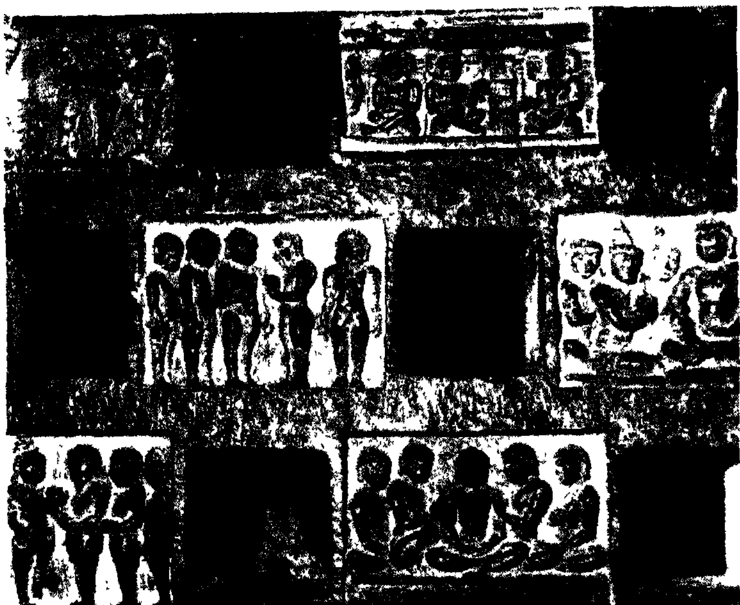
1. सूर्यास्त, 2. कल्पवृक्ष की शाखा का टूटना, 3. चन्द्रमा का उदय जिसमें छलनी की तरह छेद थे, 4. भयंकर सर्प जिसके बारह फण थे, 5. देवताओं का विमान जो नीचे उतरकर वापस चला गया, 6. मलिन स्थान में उत्पन्न कमल, 7. भूतप्रेतों का नृत्य, 8. जुगनुओं का प्रकाश, 9. जलरहित सरोवर किन्तु कहीं-कहीं थोडा-सा जल, 10. सोने की थाली में खीर खाता हुआ कुत्ता, 11. ऊँचे हाथी पर बैठा बन्दर, 12. तट की मर्यादा भंग करता समुद्र, 13. रथ को खींचते हुए बछड़े, 14. ऊँट पर सवार राजपुत्र, 15. धूल से आच्छादित रत्नराशि और 16. काले हाथियों का युद्ध। (फलक 57)।

इन सोलह स्वप्नों के अभिप्राय के सम्बन्ध में सम्राट् चन्द्रगुप्त ने अपनी महारानी से, ज्योतिषियों और मंत्रियों से परामर्श किया (58)। अभिप्राय के सम्बन्ध मे आश्वस्त होने के लिए वे आचार्य भद्रबाहु के पास गये (59)। स्वप्नों की बात सम्राट् के सेवकों को मालूम हुई। वे सम्राट् के अश्व के पास बैठे उत्सुकता से प्रतीक्षा करने लगे (60)।

सम्राट् चन्द्रगुप्त ने जाकर आचार्य भद्रबाहु को प्रणाम किया। अपने स्वप्न



2. चन्द्रगुप्त बसदि में, जाली पर, श्रुतकेवली भद्रबाहु के साथ
सम्राट् चन्द्रगुप्त के दक्षिण की ओर विहार का अंकन



3. चन्द्रगुप्त बसदि में, जाली पर, भद्रबाहु के साथ चन्द्रगुप्त के दक्षिण की ओर विहार का अंकन (परिवर्धित चित्र)

सुनाये और प्रार्थना की कि इन स्वप्नों का फल बताने की कृपा करें। आचार्य भद्र-बाहु बोले—"ये स्वप्न अच्छे नहीं हैं। ये सूचित करते हैं कि भविष्य खोटा होगा। किन्तु इसी स्थिति का चिन्तन अच्छे पुरुषों में वैराग्य उत्पन्न करेगा। स्वप्नों का फल क्रम से इस प्रकार है :

1. डूबते हुए सूर्य का अर्थ है कि पंचम काल में श्रुतज्ञान अस्त होता चला जायेगा।
2. कल्पवृक्ष की शाखा टूटने का अर्थ है कि आगे से राजपुरुष संयम को ग्रहण नहीं करेंगे।
3. चन्द्र-मण्डल में अनेक छेदों का अर्थ यह है कि धर्म के शुद्ध मार्ग को दूसरे वादी-प्रतिवादी छिन्न-विच्छिन्न करने का प्रयत्न करेंगे।
4. बारह फण वाले सर्प का अर्थ है कि बारह वर्ष तक भयंकर दुर्भिक्ष पड़ेगा।
5. वापस लौटते हुए विमान का अर्थ है कि पंचम काल में देवता, विद्याधर और चारणमुनि पृथ्वी पर नहीं आयेंगे।
6. कमल दूषित स्थान में खिला है, इसका अर्थ है कि उत्तम कुल के लोग अधर्म को अपनायेंगे।
7. भूतों के नृत्य का अर्थ कि लोगों के मन पर भूत-प्रेतों की और अनिष्ट की छाया रहेगी।
8 जुगनुओं के चमकने का अर्थ है कि धर्म के प्रकाश से रहित व्यक्ति ही उप-देशक होंगे।
9. सूखे किन्तु कहीं-कहीं जल सहित सरोवर का अर्थ है कि भगवान की वाणी का तीर्थ प्रायः सूख जायेगा, फिर भी कहीं-कहीं धर्म का अस्तित्व दिखायी देगा।
10. सोने की थाली मे खीर खाते हुए कुत्ते का अर्थ है कि नीच वृत्ति के पुरुष लक्ष्मी का उपभोग करेंगे, मनस्वी पुरुषों को वह प्राप्त नहीं होगी।
11. ऊँचे हाथी पर बैठे हुए बन्दर का अर्थ है कि राजशासन ऐसे लोगों के हाथ में आयेगा जो चचल-मति के होंगे।
12. समुद्र मर्यादा उल्लंघन कर रहा है, इसका अर्थ है कि शासक प्रजा की लक्ष्मी का हरण करेंगे और न्याय-मार्ग का उल्लंघन करेंगे।
13. रथ को वहन करने वाले बछड़ों का अर्थ है कि यौवन की अवस्था में लोग संयम ग्रहण करने की शक्ति रखेंगे, किन्तु वृद्धावस्था में यह शक्ति क्षीण हो जायेगी।
14. ऊँट पर चढ़े हुए राजपुत्र का अर्थ है कि नृप-गण निर्मल धर्म छोड़कर ऊट-पटांग हिंसा का मार्ग अपनायेंगे।
15. धूल से आच्छादित रत्नराशि का अर्थ है कि निर्ग्रन्थ साधु भी एक दूसरे की

निन्दा करने लगेंगे।

16. काले हाथियों का युद्ध यह व्यक्त करता है कि मेघ आशानुकूल वर्षा नहीं करेंगे।" (61)

स्वप्नों की यह अशुभ एवं दुःखद भविष्य-वाणी सुनकर सम्राट् चन्द्रगुप्त अत्यन्त चिन्तित होते हुए, राजप्रासाद लौट आये (62)। चन्द्रगुप्त ने विरक्त होकर राजपाट त्यागने का निश्चय किया। इस समाचार से महारानी दुखी हुईं, राजपुरुष उदास हुए। सबने सम्राट् से प्रार्थना की कि वे राजपाट न छोड़ें किन्तु सम्राट् अपने निश्चय पर दृढ़ रहे। उन्होंने महारानी और सेवकों का समाधान करने का प्रयत्न किया (63)। अन्त में चन्द्रगुप्त ने आचार्य भद्रबाहु से दीक्षा ले ली। वृद्ध महिलाओं ने भी दीक्षा ली और केशलोंच किया (64-65)। चन्द्रगुप्त ने मुनिसंघ में सम्मिलित होकर (66) मुनियों के साथ वन-प्रान्तरों में आत्म-ध्यान का अभ्यास किया (67)। मुनिसंघ के शील स्वभाव से प्रभावित होकर वनदेवी संघ की सेवा में उपस्थित हुई और उसने अपना प्रणाम निवेदन किया (68)। मुनि चन्द्रगुप्त का ध्यान-अभ्यास बढ़ता गया और वे आचार्य की उपस्थिति में कार्योत्सर्ग मुद्रा के अभ्यस्त हो गये (69)। संघ के अन्य मुनियों के साथ वे ध्यानमग्न रहते (70) और, सुदूर वन के एकान्त में भी वे एकाकी ध्यानस्थ होते (79)। उनके आसपास वन-पशु निर्भय विचरण करते (72)। चन्द्रगुप्त मुनि जहाँ-जहाँ विहार करते, वनदेवता उनकी सेवा में उपस्थित रहते (73)। चन्द्रगुप्त को आचार्य भद्रबाहु ने उस शिशु की कथा भी सुनायी, जिसने उनसे 'जाओ, जाओ' कहकर और बारह की संख्या का संकेत देकर बारह वर्ष के अकाल की चेतावनी दी थी। (74-75-76)।

आचार्य भद्रबाहु निर्णय कर चुके थे कि दुष्काल में संघ की रक्षा के लिए, धर्म के प्रचार के लिए और चारित्र को अक्षुण्ण रखने के लिए दक्षिण जाना आवश्यक है। अन्त में एक दिन प्रस्थान की घोषणा हो गयी (77)।

आचार्य भद्रबाहु का यह अभिप्राय जानकर अनेक राज-महिलाएँ (78) एवं समृद्ध श्रेष्ठी एकत्रित हुए और उनसे निवेदन किया कि वे यह प्रदेश छोड़कर न जायें, यहीं ठहरें (79)। उत्तरापथ में रह जाने वाले मुनियों ने भी ऐसी ही प्रार्थना की (81)। जब भद्रबाहु ने स्वीकृति नहीं दी तो भक्तों ने अन्य मुनियों से ठहरने का निवेदन किया। इस प्रकार की प्रार्थना करने वालों के अनेक नाम 'भद्रबाहु-चरित्र' में आते हैं। जैसे—कुबेर, मित्र, जिनदास, माधवदत्त, बन्धुदत्त आदि। प्रत्येक ने कहा—'हमारे पास धन-धान्य की कमी नहीं है। हम अपनी सम्पदा को धर्म के कार्यों में लगाना चाहते हैं। आप यहीं निश्चिन्त होकर ठहरें। मुनिसंघ को किसी प्रकार का कष्ट नहीं होगा' (81)।

आचार्य भद्रबाहु ने कहा—

संघोऽयं सुरवृक्षाभः समर्थः सर्वकर्मसु।
तथापि नात्र योग्यास्था चारुचारित्रधारिणाम् ॥
पतिष्यति तरां रौद्रं दुर्भिक्षं दुःखदं नृणाम्।
धान्यवद्दुर्लभो भावी संयमः संयमर्षिणाम् ॥
स्थास्यन्ति योगिनो येऽत्र ते त्यक्ष्यन्ति संयमम्।
ततोऽस्माद् विहरिष्यामोऽवश्यं कर्णाटनीवृतम् ॥

"यद्यपि कल्पवृक्ष के समान सब प्रकार के साधन आप लोगों के पास हैं और आप समर्थ हैं किन्तु चारित्र की रक्षा करने के लिए तत्पर साधुओं को यहाँ ठहरना उचित नहीं है। जिस प्रकार यहाँ धान्य दुर्लभ होने वाला है, उसी प्रकार संयम भी दुर्लभ हो जायेगा। यहाँ रहने वाले साधु संयम को त्याग देंगे। इसलिए हमारा निर्णय है कि हम यहाँ से कर्नाटक देश की ओर जायेंगे।"

आचार्य भद्रबाहु का यह निर्णय सुनकर श्रावकों को अब कुछ कहने के लिए नही रह गया था। वे चिन्तामग्न हुए (82), फिर उनमें ऐसी चेतना आयी—

यद्देशे विचरन्ति चारुचरिता निर्ग्रन्थयोगीश्वराः।
पद्मिन्योऽपि च राजहंसविहगास्तत्रैव भाग्योदयः ॥

—वास्तव में भाग्यशाली है वह देश (कर्नाटक) जिसमें निर्मल-चारित्र-धारक निर्ग्रन्थ साधु विहार करते है; जहाँ के श्वेत सरोवरों में कमलिनियाँ शोभित होती है, जहाँ राजहंस विचरते हैं। अतः निमित्त-ज्ञानियों ने जो कहा है वह ठीक ही है।

आहार के उपरान्त (83), मुनिसंघ के विहार से पहले आचार्य भद्रबाहु ध्यानमग्न हुए (84)। संघ ने प्रस्थान किया (85), आचार्य ने पुनः धर्मोपदेश दिया (86)। राजपुरुषों, श्रेष्ठियों, गण-नायकों और जनसामान्य ने आचार्य भद्र-बाहु और मुनिसंघ को श्रद्धापूर्ण विदाई दी तथा उनके धर्म-मंगल की कामना की (87-90)।



खण्ड : तीन

धर्मचक्र की धुरी पर
मूर्तिमती दिगम्बर-साधना की इतिहास-यात्रा

1

आचार्य भद्रबाहु का धर्मचक्र
और
दिगम्बरत्व की विराटता के बिम्ब बाहुबली

श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु मुनि-धर्म और श्रावक-धर्म की श्रेष्ठ सांस्कृतिक परम्पराओं को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए कृतसंकल्प थे। उन्हें पता था कि मुनि-धर्म के अनुरूप संयम का आचरण वे साधु नहीं कर पायेंगे जो दुर्भिक्ष-ग्रस्त क्षेत्र में रहेंगे। आचार्य भद्रबाहु महामात्य चाणक्य की बुद्धि का चमत्कार, उनका नीति-कौशल और उनके द्वारा चन्द्रगुप्त के विशाल साम्राज्य की यशस्वी स्थापना देख चुके थे। उस राजनीति का सफल नायक सम्राट् चन्द्रगुप्त अब उनका साक्षात् शिष्य था। आचार्य को यह अवसर अनुकूल लगा कि मानव-कल्याणकारी जिनधर्म के अहिंसा और विश्वमैत्री के सिद्धान्तों के आधार पर धर्म-साम्राज्य विस्तृत हो। आचार्य भद्रबाहु ने संघ-सहित दक्षिणापथ की ओर प्रस्थान करने का निर्णय ले लिया था।

आचार्य भद्रबाहु ने जब यह संकल्प किया तब कितनी अदम्य साहसिक दृढ़ता रही होगी उनके मन मे! साम्राज्य त्यागी सम्राट् चन्द्रगुप्त साथ थे, यह तथ्य अपनी जगह महत्त्वपूर्ण है किन्तु इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि आचार्य भद्रबाहु के संघ मे बारह हजार साधु थे। कितना बड़ा संघ! कितनी लम्बी यात्रा: कितने नगर, ग्राम, जनपद, पहाड़ और घने जंगल! इतने बड़े संघ के साधुओं के आहार-विहार की क्या व्यवस्था रही होगी, यह सोच पाना कठिन है। किन्तु जो आचार्य अपने शिष्यों को इसलिए दक्षिण की ओर ले चले कि उनका संयम और आचरण स्थिर रहे, उनका पूरा प्रयत्न यही रहा होगा कि यात्राकाल में सारे संघ का आचार-विचार शुद्ध रहे। कितने दिन संघ निराहार रहा होगा! कैसे धीरे-धीरे संघ की यात्रा आगे बढ़ी होगी! किन्तु, किसी भी भय की कल्पना करना शायद उचित नहीं है, क्योंकि धर्मप्रधान भारतवर्ष की जनता साधुत्व और त्याग को समझती आयी है, और इसीलिए त्यागी-विरागी साधुओं के प्रति उसके हृदय में सदा सहज विनम्रता जगती रही है। आचार्य भद्रबाहु के संचालन में इतना बड़ा

संघ जहाँ-जहाँ पहुँचता होगा, किस प्रकार ये बारह हजार साधु पहाड़ों की घाटियों और जंगलो के सुनसान प्रदेशों मे दिन-रात तपस्या में लीन रहते होगे। अञ्चल-वासी जनता के लिए यह अद्‌भुत चमत्कारी अनुभव रहा होगा। जिस धर्म में समवसरण और दिव्यध्वनि की संकल्पना है, उस धर्म की पताका के धारक आचार्य भद्रबाहु अच्छी तरह समझते थे कि जो बात मात्र वाणी के उपदेश से नहीं सध सकती, वह तपस्या और संयम के प्रत्यक्ष उदाहरण से कहीं अधिक गहराई के साथ जनमानस मे प्रविष्ट हो जाती है। सहस्रों दिगम्बर मुनि अलग-अलग या समूह रूप मे जब कायोत्सर्ग मुद्रा मे खड़े होते होंगे तो स्वभावत: इन साधुओं की खड्गासन या पद्मासन मुद्रा को तीर्थंकर-धर्म से सदर्भित करके लोगों ने दिगम्बरत्व की कल्पना को प्रत्यक्ष आत्मसात् कर लिया होगा।

जैन संस्कृति की रूपरेखा प्रथम तीर्थंकर भगवान् आदिनाथ ने चित्रित की। उनके पुत्र भरत ने उसकी सवर्धना की, और बाहुबली ने तो जीवन की यथार्थता में उस संस्कृति के अनेक आयाम खोल दिये। वह तमोगुण में व्याप्त अधकार से रजोगुण की ओर बढे और अन्त मे उन्होने निर्वाण की शुद्ध सात्त्विक स्थिति का साक्षात्कार किया।

भगवान आदिनाथ से भी पहले बाहुबली को मोक्ष प्राप्त हुआ, यह घटना बड़ी चमत्कारी और महत्त्वपूर्ण है। इस काल के वह पहले मोक्षगामी जीव है और पहले कामदेव है। स्वयं भरत ने पोदनपुर मे तीर्थंकर आदिनाथ की मूर्ति न बनवाकर बाहुबली की अत्यन्त ऊँची, 527 धनुष प्रमाण पन्ने की मूर्ति बनवाई!

- विशालता का ध्यान करते हैं तो लगता है कि बाहुबली ही ऐसे महिमामय महापुरुष है, जिनकी मूर्ति सार्थक रूप मे बड़ी-से-बड़ी बनाई जा सकती है।
- वे अपराजेय हैं। उनकी कथा मे युद्ध की चुनौती है। सेनापतियों और योद्धाओं के लिए वे प्रमाण-पुरुष है।
- उन्होने जीवन में जो देखा, सहा और भोगा उसमें क्रोध, मान, माया और लोभ, चारों कषायों की तीव्रतम अभिव्यक्ति है :

भरत चक्रवर्ती द्वारा अपने भाई बाहुबली के शिरच्छेद के लिए चलाया गया चक्र माया और छल का चरम उदाहरण है क्योंकि तीन प्रकार के युद्धों की निश्चित प्रक्रिया के विरुद्ध उन्होंने यह हेय कार्य किया। चक्रवर्ती का लोभ ऐसा कि शेष सम्पूर्ण संसार को जीतकर भी राज्य-विस्तार की लालसा मे अपने छोटे भाई की अति-सीमित भूमि को भी वह छोड़ नही सका। मान और अहंकार का प्रत्यक्ष दर्शन तो बाहुबली ने अपने ही जीवन में किया। स्वयं गुरु से दीक्षा नहीं ली; भरत की पृथ्वी पर संचरण न करना पड़े इसलिए एक वर्ष तक एक ही स्थान पर मात्र दो तलवों पर खड़े हुए उन्हे कठिन कायोत्सर्ग तपस्या में भी अहंकार का शल्य चुभता रहा।

- बाहुबली जनता के मन में शौर्य और तपस्या की संतुलित मूर्ति के रूप में प्रतिष्ठित हैं।
- राजाओं के लिए वे धीर-गम्भीर-वीरत्व के आदर्श हैं।
- साधुओं के लिए उनकी अदम्य कायोत्सर्ग मुद्रा अनुकरणीय है।
- शिल्पियों के लिए उनकी विशालता, उनका औदार्य और उनकी आध्यात्मिक दिव्यता हृदय में उतारने की वस्तु है। कोमल माधवी लताओं या पिप्पली-लतिकाओं द्वारा शरीर का आच्छादन, कुक्कुट सर्पों की बाँबियाँ और वन के समस्त प्राणियों का आसपास निर्भय सचरण—सब कुछ, जो कला के लिए वांछनीय है, बाहुबली-मूर्ति की कल्पना में समाहित है।
- साहित्यकारों के लिए इससे अधिक मनोरम कथानक, इससे बड़ा रोमांच, नाटकीय तत्त्वों का इतना गहन समावेश, भावनाओं का घात-प्रतिघात और रसों का परिपाक अन्यत्र कहाँ मिलेगा ?
- बाहुबली संसार के उन आदिपुरुषों में हैं जिन्होंने आत्मगौरव के लिए, अपनी भूमि की स्वतन्त्रता के लिए, संग्राम किया और युग-युगान्तर के लिए स्वाधीनता के महत्त्व को स्थापित किया।
- बाहुबली प्रतीक हैं आध्यात्मिकता के उन बहुरंगी रूपों के, जो स्थूल के माध्यम से सूक्ष्म की ओर, गोचर से अगोचर की ओर, और इन्द्रियों के संयम से इन्द्रियातीत आत्मा के दर्शन की ओर अग्रसर होते हैं।

दिगम्बरत्व की इतनी बड़ी साहसिक कल्पना इन्हीं भगवान बाहुबली के चरित्र के माध्यम से जन-जन में प्रतिष्ठित हो पाई। और, बाहुबली की ऐसी विशाल दिगम्बर मूर्ति का निर्माण करना दसवीं शताब्दी के प्रतापी महापुरुष सेनापति और अमात्य चामुण्डराय के लिए सम्भव हुआ, जिसे जैन तथा जैनेतर जनता में, जन-जन में आदर-सम्मान प्राप्त था।



2

श्रवणबेलगोल में बाहुबली की मूर्ति-प्रतिष्ठापना

चामुण्डराय का आध्यात्मिक रोमांच

सम्राट् भरत से लेकर सम्राट् चन्द्रगुप्त तक के प्राचीन इतिहास को भगवान आदिनाथ के धर्मचक्र की जो जय-यात्रा निरन्तरता प्रदान करती है, उसके गमन-चिह्नों की लीक श्रवणबेलगोल की चन्द्रगिरि पहाड़ी के शिखर तक पहुँची। वहाँ चन्द्रगिरि के सामने ही है विन्ध्यगिरि। लगभग तेरह शताब्दियों बाद कर्णाटक के परम तेजस्वी राज-पुरुष महामात्य चामुण्डराय ने विन्ध्यगिरि को विश्व का धर्मतीर्थ बना दिया—भगवान बाहुबली की विशाल और अनुपम मूर्ति की प्रतिष्ठापना द्वारा।

नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती कृत 'गोम्मटसार जीवकाण्ड' की मन्दप्रबोधिनी टीका की उत्थानिका में उल्लेख है और इतिहास साक्षी है कि चामुण्डराय ने अपनी वीरता और प्रतिपक्षी नरेशों से सफलता पूर्वक लोहा लेने के कारण अनेक उपाधियाँ प्राप्त की। उनमें से तीन का उल्लेख दुर्गों पर चढ़ाई करके शत्रु को समूल उखाड़ फेंकने के यश से सम्बन्धित है: 'रणरङ्गसिंह', 'वीर-कुल-काल-दण्ड' तथा 'भुज-विक्रम'।

युद्ध के मैदान में रणकौशल दिखाकर नोलम्ब नरेश को पराजित करके 'वीर-मार्तण्ड' की उपाधि प्राप्त की।

पराक्रमी शत्रु बज्जल को खेड़क-युद्ध में हराकर 'समर-धुरन्धर' की पदवी अर्जित की। इसी प्रकार 'समर-परशुराम', प्रतिपक्ष-राक्षस', 'भटमारि', असहाय-पराक्रम', आदि अनेक उपाधियों की पृष्ठभूमि में चामुण्डराय के पराक्रम, शौर्य, रणनीति और मित्र-नरेशों की तत्पर सहायता की कथा गुम्फित है। महाबलय्य का यह पुत्र अपने वंश की परम्परा की कीर्ति को चार चाँद लगा गया।

नोलंबों, चालुक्यों और बज्जलों की लोभ-लालसा की दृष्टि जैन धर्मावलम्बी गंग-नरेशों के राज्य पर सदा लगी रहती थी। यह चामुण्डराय के शौर्य और रण-कौशल का प्रताप था कि विरोधियों को बारबार पराजय सहनी पड़ी।

चामुण्डराय ने धर्म-पताका को सदा ऊँचा रखा।

चामुण्डराय ने अपनी भक्ति, धर्मभावना, सत्यनिष्ठा, जैनधर्म के प्रति अटूट श्रद्धान और जिनशासन-प्रभावना के कारण जो उपाधियाँ प्राप्त की, वे हैं : सम्यक्त्वरत्नाकर, शौचाभरण, गुणरत्नभूषण, देवराज।

चामुण्डराय के गुरु नेमिचन्द्र परम तपस्वी और अगाध ज्ञानी थे। उनकी कृपा से ही चामुण्डराय को गुल्लिकायज्जी के दर्शन हुए। गोम्मटेश्वर की प्रतिमा का अभिषेक सम्पन्न हुआ और चामुण्डराय अहंकार के कषाय-भाव से बच गये। यह कथा आगे दी है।

उत्कट शौर्य के साथ मृदुता और निरभिमानता के समागम का पाठ गुरु नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने चामुण्डराय को शास्त्रज्ञान के साथ-साथ पढ़ाया।

नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती एक दिन जब कर्मसिद्धान्त के प्राचीन ग्रन्थ धवला का अध्ययन कर रहे थे तो चामुण्डराय गुरु के दर्शनों को उनके पास पहुँचे। गुरु ने चामुण्डराय को देखते ही उस ग्रन्थ को बन्द करके एक ओर रख दिया। चामुण्डराय को शास्त्रज्ञान में गहरी रुचि थी। उन्होंने गुरु से पूछा—

"मुनिवर ! आप किस शास्त्र का अध्ययन कर रहे थे ? आपने उसे उठाकर रख दिया। कृपा करके मुझे बतायें इसका विषय क्या है।"

गुरु ने कहा, "चामुण्डराय, यह इतना कठिन विषय है, इसका इतना विस्तार है कि तुम्हारी समझ में नहीं आयेगा। अभी तुम इस ज्ञान के अधिकारी नहीं हुए।"

चामुण्डराय ने गुरु से प्रार्थना की कि सिद्धान्त के गहन विषयों की उसे शिक्षा दें। उसके लिए सिद्धान्त-विषयों का सार इस प्रकार लिख दें कि विषय संक्षेप में समझ में आ जाये। गुरु ने चामुण्डराय के लिए 'पंचसंग्रह' नाम का ग्रन्थ प्राकृत भाषा में रच दिया। वह षट्खण्डागम के छह खण्डों का संग्रह है, उनका सार दिया गया है। गुरु की अपने इस शिष्य गोम्मट पर इतनी कृपा थी कि उक्त ग्रन्थ का नाम ही उन्होंने 'गोम्मटसार' रख दिया। ग्रन्थ की अनेक गाथाओं में गोम्मट शब्द का प्रयोग किया, जहाँ उसके अर्थ का संकेत गोम्मटराय अर्थात् चामुण्डराय की ओर है—

गोम्मटसंगहसुत्तं, गोम्मटसिहरुवरि गोम्मटजिणो य।
गोम्मटरायविणिम्मिय, दक्खिणकुक्कुडजिणो जयउ॥
कर्मकाण्ड, 968

चामुण्डराय स्वयं शास्त्रज्ञानी हो गये, उनके अपने रचे ग्रन्थों के नाम भी प्रचलित हैं :

(1) वीरमार्तण्डी—गोम्मटसार की कन्नड़ में टीका जो अभी तक अनुपलब्ध है। इस प्रकार की एक टीका केशव वर्णी द्वारा भी रची गई है।

(2) चारित्रसार।
(3) त्रिशष्ठिशलाकापुरुषचरित्र (63 महापुरुषों की जीवन-गाथा जिसमें 24 तीर्थंकर भी सम्मिलित हैं।) कन्नड गद्य का यह प्राचीन नमूना है। कन्नड भाषा को आधुनिक आधार देने वाले साहित्यकार चामुण्डराय हैं।

गोम्मटेश्वर की मूर्ति-निर्माण की कथा

भगवान बाहुबली की मूर्ति के निर्माण की कथा अत्यन्त चमत्कारी है। कहते हैं कि चामुण्डराय की माता कालला देवी ने मुनियों से सुन रखा था कि उत्तर भारत मे तक्षशिला के समीप पोदनपुर में भगवान बाहुबली की विशाल मूर्ति है, जिसके पवित्र दर्शन आत्मा को परम शान्ति देते हैं। किन्तु उस मूर्ति के दर्शन बड़े भाग्य मे होते हैं। न मालूम माता के हृदय में क्या भावना हुई कि उन्होंने यह दृढ़ निश्चय कर लिया कि वह पोदनपुर की उस मूर्ति का दर्शन अवश्य करेंगी। उन्होंने अपने पुत्र चामुण्डराय और पुत्रवधू अजिता देवी के समक्ष यह भावना प्रकट की। आज्ञाकारी पुत्र ने तत्काल निर्णय किया कि वह जल्दी ही प्रबन्ध करेंगे कि माता को पोदनपुर ले जायें और भगवान बाहुबली की उस अद्भुत विशाल प्रतिमा का दर्शन करायें, स्वयं भी कृतकृत्य हों। तत्काल ही यात्रा का प्रबन्ध करना इसलिए और भी आवश्यक हो गया कि माता की प्रतिज्ञा थी कि जब तक वे उस मूर्ति के दर्शन नही करेंगी तब तक दूध का आहार ग्रहण नहीं करेंगी।

भक्ति-भाव से गद्गद माता, पुत्र और पुत्रवधू भगवान बाहुबली की यात्रा के लिए निकल पडे। साथ में गुरु आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती थे। अपनी राजधानी तलक्काड से चलकर कई दिन की यात्रा के उपरान्त श्रवणबेलगोल के स्थान पर पहुँचे और वहाँ विश्राम किया। वहीं एकाएक रात को चामुण्डराय को स्वप्न हुआ। स्वप्न मे कूष्माण्डिनी देवी ने, जो बाइसवें तीर्थंकर नेमिनाथ की शासन-देवी हैं, दर्शन दिया और कहा—

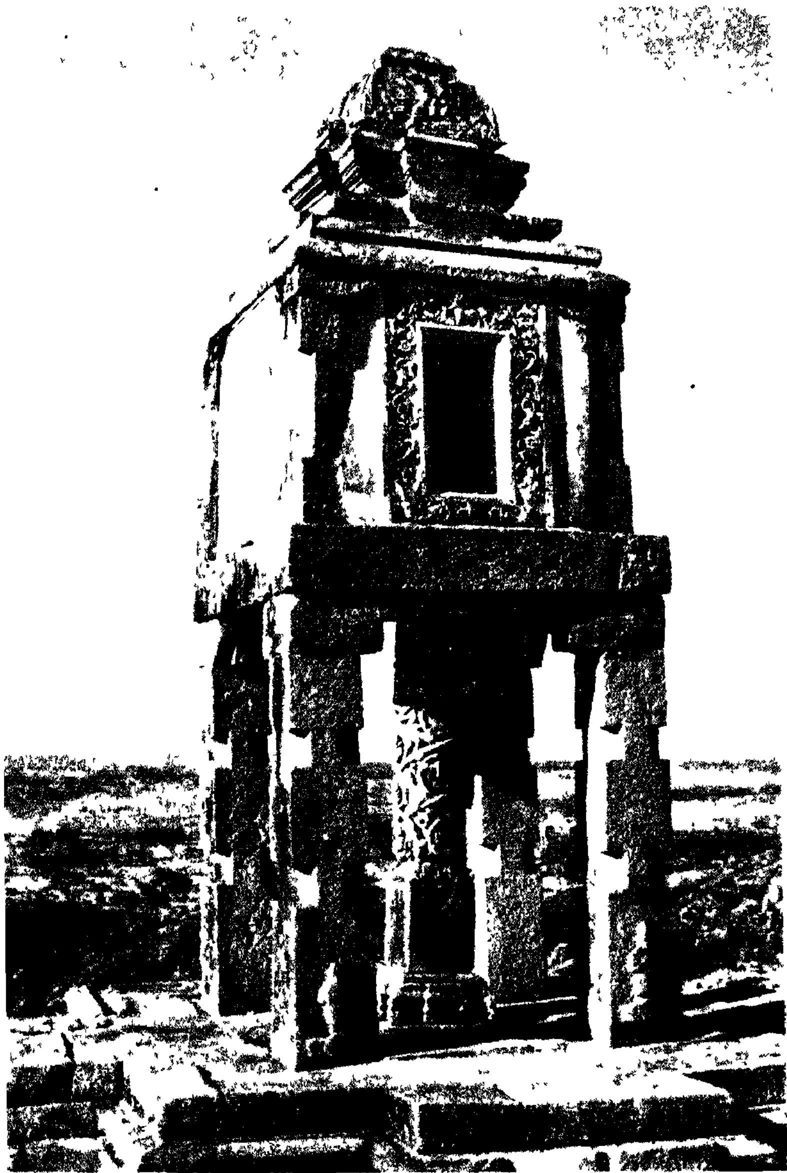
"व्यर्थ होगी तुम्हारी पोदनपुर की यात्रा, वत्स! क्योंकि वहाँ बाहुबली-मूर्ति के दर्शन नही हो सकेंगे। उसे तो कुक्कुट सर्पों ने पूरी तरह से आच्छादित कर रखा है।"

स्वप्न में ही चामुण्डराय अधीर हो गये। देवी ने उन्हें आश्वासन दिया और कहा—

"तुम्हारी मातृ-भक्ति से मैं प्रसन्न हूँ। मैं तुम्हें और तुम्हारी माता को यहीं बाहुबली की विशाल मूर्ति के दर्शन करवा दूँगी। ध्यानपूर्वक विधि सुनो। प्रातः सूर्योदय होते ही स्नान-ध्यान करके तुम यहाँ जिस पहाड़ी के तल में विश्राम कर रहे हो, उसके शिखर पर चढ़ो और वहाँ से सामने की बड़ी पहाड़ी के शिखर पर



4. कूष्माण्डिनी देवी (चन्द्रगिरि पर)



5. त्यागद ब्रह्मदेव स्तम्भ (बाच में स्थित)

[भा० पु० स०, नई दिल्ली]

भक्तिभाव से सोने का एक तीर छोड़ो और देखो कि क्या होता है।"

अन्तर की निर्मल भावनाओं का यह सुयोग और यह प्रताप कि यही स्वप्न चामुण्डराय की माता को भी हुआ और उनके गुरु नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती को भी।

अगले दिन प्रातःकाल चामुण्डराय ने जब विधिवत् विनम्र भाव से तीर छोड़ा तो आश्चर्य का ठिकाना न रहा कि सामनेवाली पहाड़ी की चट्टान की परतें गिरने लगीं और भगवान बाहुबली की मूर्ति का मस्तक-भाग स्वतः स्पष्ट होने लगा। अब प्रश्न उठा कि पर्वत-पाषाण की परतों को हटाकर मूर्ति को आकार देने वाला शिल्पी कौन हो ?

शिल्पी की खोज : त्यागद ब्रह्मदेव

कहा जाता है कि चामुण्डराय ने राज्य के प्रधान शिल्पी अरिष्टनेमि को बुलाकर अपना अभिप्राय बताया कि भगवान बाहुबली की विशाल प्रतिमा का निर्माण कराना है जिसके लिए सहायक कुशल शिल्पियों की खोज आवश्यक होगी। मूर्ति की विशालता की कल्पना देने के लिए चामुण्डराय ने शिल्पी को अपनी माता के मन में उत्पन्न बाहुबली-दर्शन की उत्कट अभिलाषा का प्रसंग बतलाया और कहा कि उत्तर भारत में तक्षशिला के निकट प्राचीन पोदनपुर नगर में महाराज भरत ने जो पन्ने की प्रतिमा निर्मित करायी थी, वैसी विशाल मूर्ति यहाँ विन्ध्यगिरि पर निर्माण करनी है।

चामुण्डराय ने शिल्पी को वह पाषाण-शिखर भी दिखलाया जहाँ स्वप्न-निर्दिष्ट विधि से छोड़ा गया तीर पहुँचा था। शिल्पी ने विन्ध्यगिरि के उस शिखर को आँखों-ही-आँखों में नाप लिया और मूर्ति की विशालता का अनुमान मन में बैठा लिया।

"इतनी विशाल मूर्ति के निर्माण में तो बहुत समय लग जायेगा", शिल्पी ने मन-ही-मन सोचा। "और, इतने महान् उपक्रम का पारिश्रमिक चामुण्डराय क्या देंगे ?" यह प्रश्न भी उसके अन्तस् में बार-बार उठ रहा था।

"क्या सोच रहे हो, अरिष्टनेमि," चामुण्डराय ने अधीर होकर पूछा। "क्या यह निर्माण तुमसे हो नहीं पायेगा ? या सोचते हो कि इसका पारिश्रमिक क्या होगा ?"

"हो क्यों नहीं पायेगा, स्वामी ! किन्तु सचमुच, पारिश्रमिक की राशि बता पाना इतना कठिन लगता है कि मन में दुविधा उत्पन्न होती है," शिल्पी ने अपनी कठिनाई स्पष्ट कर दी।

"दुविधा छोड़ो, शिल्पी ! कहो क्या चाहते हो ?"

शिल्पी ने निःशंक होकर कहा—"इस शिला में से मूर्ति का स्थूल आकार छाँट लूँगा। फिर मूर्ति के निर्माण में जितना पाषाण छँटता जायेगा, जितने पाषाण-

खण्ड गिरते जायेंगे, और मूर्ति की भव्यता को उकेरने में छैनियों से जो शिला-कण और चूर्ण बिखरते जायेंगे, उन सबको इकट्ठे करते जाना होगा और जिस मात्रा में पाषाण खण्ड और क्षरण इकट्ठा हो जायें, उतनी तौल का स्वर्ण मुझे प्राप्त हो।"

चामुण्डराय आश्वत हुए। प्रसन्न मन बोले —"स्वीकार है।"

बात पक्की हो गई और प्रधान-शिल्पी ने अपने अधीन अनेक शिल्पियों तथा श्रमिकों को काम पर लगा दिया। चामुण्डराय पहाड़ी की ऊपरी ढलान पर प्रतिदिन एक निश्चित स्थान पर आकर बैठते और शिला से काटे-छाँटे गए पाषाण-खण्डों की तौल करवाकर लिखवाते जाते। धीरे-धीरे इतना ढेर इकट्ठा हो गया कि चामुण्डराय को शिल्पी से कहना पड़ा कि अभी जितना ढेर इकट्ठा हो गया है, उतने का स्वर्ण वह ले जाये। आगे भी जैसे-जैसे काम बढ़ता जाये वह हाथ-के-हाथ अपना पारिश्रमिक लेता रहे।

पहली पारी के सोने का ढेर लदवा कर शिल्पी अपने गाँव आया और जैसे ही दोनों हाथों मे उठाये पहले ढेर को अपनी माँ के आगे रखने लगा, कि उसके हाथ जड हो गये, जकड़ गये, और सोने के ढेर से अलग न हो पाये। शिल्पी पर आतंक छा गया, वह पीड़ा से कराहने लगा। माँ आचार्य महाराज के पास दौड़ी गई, दर्शन किये, समाधान माँगा, और घर वापिस आकर बेटे से कहा—"बेटा, यह सोना तुम्हारे हाथों से नहीं चिपका है, यह भार तुम्हारे मन और हृदय पर जड हो गया है। तू देखता नहीं कि एक बेटा अपनी माँ की भक्ति-भावना से हर्षित होकर परम पूज्य भगवान बाहुबली की विशाल मूर्ति बनवा रहा है, सोने-चाँदी के संग्रह की भावना से अपने मन को मुक्त कर रहा है; और एक तू है कि लोभ-भरे मन से अपनी माँ को भगवान की मूर्ति बनाने की मजदूरी सोने के रूप में दे रहा है। तेरा मन पड़ा हुआ है आगे आने वाले सोने के ढेरो मे। बेटा ! तू ही बता, तेरा उद्धार कैसे होगा?"

माँ की वाणी की पवित्र भाव-धारा ने शिल्पी के मन को एक क्षण मे झकझोर कर निर्मल कर दिया। उसके अश्रु बहने लगे। दोनों हाथ सोने से मुक्त हो गये और हृदय लोभ से मुक्त हुआ। चामुण्डराय तो सोना देते ही रहे, किन्तु शिल्पी अब पत्थर नहीं तराश रहा था, भगवान बाहुबली की मूर्ति रच रहा था। यही क्षण था जब उसे गोम्मटेश्वर के मुख, होंठ, नेत्र और उनकी उस दिव्य मुस्कान को रूप देना था जो करुणा, आशीष और कल्याण की निर्झरिणी है। पवित्र मन ने उसके शिल्प को दिव्य आभा से मण्डित कर दिया। हृदय में बसी भक्ति ने पाषाण पर चलने वाली हथौड़ी और छैनी के उकेरों को कमल-दल की कोमलता से सुरभित कर दिया।

धन्य हो गया शिल्पी, धन्य हो गये चामुण्डराय, और युग-युग के लिए कृतार्थ हो गया भारत का शिल्प-वैभव जो दर्शनार्थियों को अमरत्व का बोध देता आ

रहा है।

जिस स्थान पर बैठकर चामुण्डराय शिल्पियों को पारिश्रमिक और अभाव-ग्रस्त व्यक्तियों को दान दिया करते थे, जिस स्थान पर जैन धर्म की उदार संस्कृति ने कर्नाटक की जनता में प्रचलित ब्रह्मदेव की उपासना को अपनत्व ही नहीं दिया, उसे जिन-शासन की रक्षा के दायित्व का देवता बनाकर स्तम्भ-शीर्ष पर आसन भी दिया, वह स्थान आज 'त्यागद ब्रह्मदेव' के नाम से प्रसिद्ध है। वहाँ स्वयं चामुण्डराय ने ब्रह्म-स्तम्भ का निर्माण करा दिया था। इस स्तम्भ को आचार्य भद्रबाहु द्वारा दक्षिण प्रान्त में लायी गयी सार्वभौम जैन संस्कृति की सामर्थ्य प्राप्त हुई। यही कारण है कि यह स्तम्भ अलौकिक चमत्कार का साक्षी हो गया। यह अधर में स्थित है। एक समय था जब तीर्थयात्री स्तम्भ के नीचे से आर-पार रूमाल निकालकर चमत्कार का प्रत्यक्ष दर्शन करते थे। आज भी इस स्तम्भ के तीन कोने प्राय: अधर में स्थित है।

जैन आचार्यों की इस दूरदर्शिता के लिए, उनकी समन्वय भावना के लिए हमें कृतज्ञ होना चाहिए कि अहिंसा और अनेकान्त के सिद्धान्त के बल पर उन्होंने जैन स्थापत्य में ब्रह्मदेव को समाविष्ट कर लिया। कर्नाटक में प्राय: प्रत्येक बड़ी जिन बसदि, प्रत्येक बड़े मन्दिर, के सामने मानस्तम्भ है, मानस्तम्भ पर ब्रह्मदेव की मूर्ति निर्मित है। ब्रह्मदेव घोड़े पर विराजमान हैं। उनके दायें हाथ में फल है जो उनकी कृपा-भावना का प्रतीक है। उनके बायें हाथ में चाबुक है जो धर्म से विमुख होने वालों के लिए दण्ड-विधान का प्रतीक है। उनके पांव मे खड़ाऊँ हैं जिसका अभिप्राय है कि मन्दिर की पवित्रता का वह आदर करते हैं। कर्नाटक की जनता जब अपने इस देवता को मानस्तम्भों पर देखती है—एक-से-एक बड़े और ऊँचे मानस्तम्भों पर, जिन्हे जैन राजपुरुषों, सेट्टियों (श्रेष्ठियों) और धनवानों ने स्थान-स्थान पर बनवाया है—तब वह जैन मन्दिरों को अपना समझती है और सोचती है कि जिस तीर्थंकर-धर्म की रक्षा ब्रह्मदेवता घोड़े पर चढ़कर स्वयं करते हैं, जो अत्याचारियों को दण्ड देने के लिए चाबुक हाथ मे लिये हुए हैं; उन धर्म-स्थानों को सुरक्षित रखना, उन्हें संकट से बचाना प्रत्येक स्त्री-पुरुष का कर्त्तव्य है।

यही कारण है कि कर्नाटक के जैन मन्दिरों को समय की लीला ने कितनी ही क्षति पहुँचायी हो, धार्मिक सहिष्णुता ने उन्हें सुरक्षित रखा।

त्यागद ब्रह्मदेव विन्ध्यगिरि के शिखर पर निर्मित गोम्मटेश्वर की मूर्ति का मुखमण्डल आज एक हजार साल से निहार रहे हैं। कैसी अनुपम है वह मूर्ति !

भगवान बाहुबली के दर्शन : साक्षात्कार का पुलक

प्रकृति की भरपूर गरिमा और क्षेत्रीय सुषमा के लावण्य से मनोरम श्रवण-बेलगोल का परिवेश इतना मोहक है कि यात्री मन्त्रमुग्ध सा बढ़े चला आता है।

नीलगिरि के वृक्षों की झूमती कतारें, हरे-भरे खेत, श्यामल-श्वेत मेघ, घने जंगल, नारियल और सुपारी के पेड़, लौंग और चन्दन की सुरभि से महकते वन-प्रान्तर अन्यत्र कहाँ हैं ?

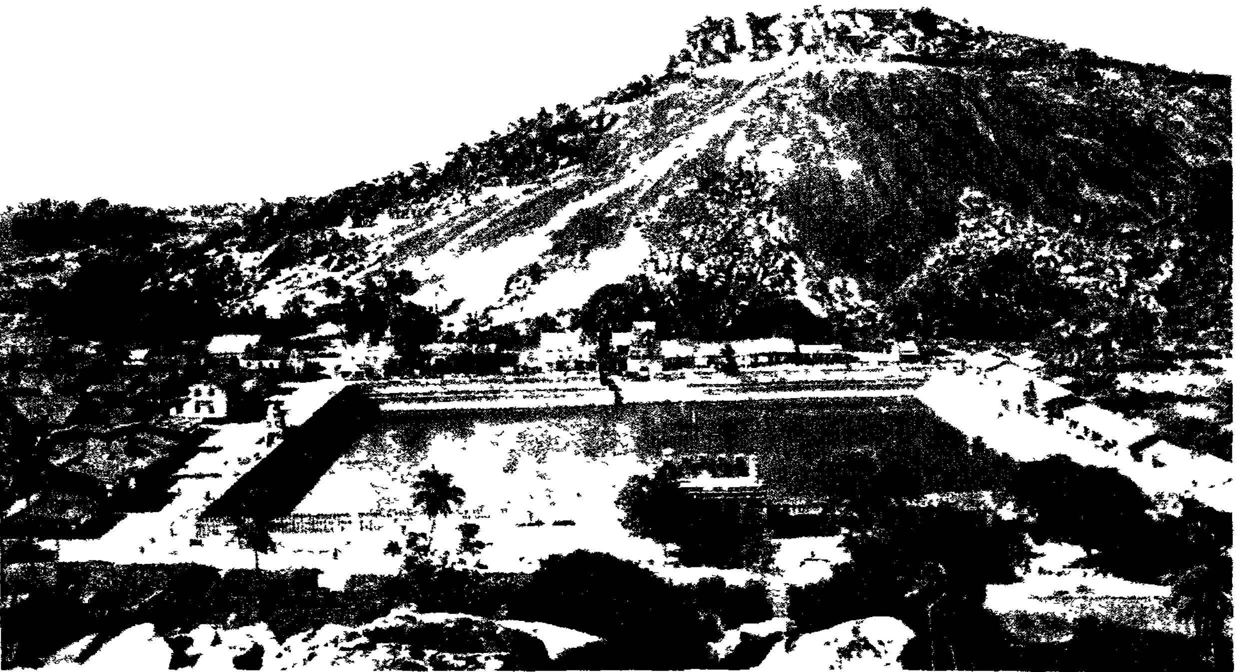
श्रवणबेलगोल की इस विन्ध्यगिरि पहाड़ी का स्थानीय नाम दोड्डबेट्टा है जिसका अर्थ होता है बड़ी पहाड़ी। यह समुद्रतल से 3347 फुट ऊपर है और नीचे के मैदान से 470 फुट ऊँची है। शिखर पर पहुँचने के लिए लगभग 60 सीढ़ियाँ हैं। ऊपर समतल चौक घेरे से घिरा है। घेरे के बीच में छोटे-छोटे तलघर हैं जिनमें अनेक जिन प्रतिमाएँ सुरक्षित हैं। घेरे के चारों ओर कुछ दूरी पर भारी दीवार है जिसमें कहीं-कहीं प्राकृतिक शिलाएँ भी उसका भाग बन गई हैं।

चौक के ठीक बीचों-बीच उत्तरमुख स्थित है भगवान बाहुबली की विश्व-वन्द्य विशाल मूर्ति—दिगम्बर, निर्विकार, कायोत्सर्ग मुद्रा में। श्रवणबेलगोल की ओर बढ़ते हुए 15 मील की दूरी से ही यह मूर्ति दिखाई देने लगती है और जल्दी से जल्दी पहुँच जाने की भावना हृदय को आनन्द-विभोर किये रहती है। मूर्ति की विशालता का अंकन पुराने ग्रन्थों में हाथ और अंगुलियों के माप से दिया हुआ है।

पूरे पर्वत-खण्ड में से इतनी विशाल मूर्ति का आकार कल्पना में उतारने और भारी हथौड़ी तथा छैनियों की नाजुक तराश से मूर्ति का अंग-अंग उकेरने का काम जितनी एकाग्रता और संयम-साधना से हुआ होगा, इसकी कल्पना करने पर रोमांच हो उठता है। नुकीली और संवेदनशील नाक, अर्धनिमीलित ध्यानमग्न नेत्र, सौम्य स्मित ओष्ठ, किंचित् बाहर को निकली हुई ठोडी, सुपुष्ट कपोल, पिण्डयुक्त कान, मस्तक तक छाये हुए घुंघराले केश आदि, इन सभी से दिव्य आभा वाले मुख-मण्डल का निर्माण हुआ है। बलिष्ठ विस्तृत पृष्ठभाग का कलात्मक निर्माण, आठ मीटर चौड़े बलशाली कन्धे, चढ़ाव-उतार रहित कुहनी और घुटनों के जोड़, संकीर्ण नितम्ब जिनकी चौड़ाई सामने से तीन मीटर है और अत्यधिक गोल है, ऐसे प्रतीत होते हैं मानो मूर्ति को सतुलन प्रदान कर रहे हों। भीतर की ओर उकेरी गई नालीदार रीढ़, सुदृढ़ और अडिग चरण, सभी उचित अनुपात में मूर्ति-कला की उन अप्रतिम परम्पराओं की ओर संकेत करते हैं जिनका शारीरिक प्रस्तुति से कोई सम्बन्ध नहीं है क्योंकि तीर्थंकर या साधु का अलौकिक व्यक्तित्व केवल भौतिक जगत् की कोई सत्ता नहीं, उसका निजत्व तो आध्यात्मिक तल्लीनता के आनन्द में है। त्याग की परिपूर्णता निरावरण नग्नता में है। सुदृढ़ निश्चय, कठोर साधना और आत्म नियन्त्रण की परिचायक है खड्गासन-मुद्रा।

इस दिगम्बर मूर्ति की नग्नता के सम्बन्ध में गाँधीयुग के चिन्तक और साहित्य-सर्जक काका कालेलकर के मार्मिक उद्गार हैं :

"सांसारिक शिष्टाचार में फंसे हुए हम उस मूर्ति की ओर देखते ही सोचने लगते हैं कि यह मूर्ति नग्न है। लेकिन क्या नग्नता वास्तव में हेय है ? अत्यन्त



6. विन्ध्यगिरि और कल्याणी सरोवर का विहंगम दृश्य

[भा० पु० स०, मैसूर]



7. गोम्मटेश्वर बाहुबली



8. गुल्लिकायज्ञी, एक रेखांकन



9. चंवरधारी यक्ष (बाहुबली-मूर्ति के पाद-पार्श्व में)

[भा० पु० स०, नई दिल्ली]

अशोभन है ? यदि ऐसा होता तो प्रकृति को भी इसके लिए लज्जा आती। फूल नंगे रहते हैं; पशु-पक्षी भी नंगे ही रहते हैं; प्रकृति के साथ जिनकी एकता बनी हुई है वे शिशु भी नंगे रहते हैं। उनको अपनी नग्नता में लज्जा नहीं लगती। उनकी ऐसी स्वाभाविकता के कारण ही हमें भी उनमें लज्जा जैसी कोई चीज नहीं दिखाई देती। लज्जा की बात जाने दीजिए। इस मूर्ति में कुछ भी अश्लील, बीभत्स, जुगुप्सित, अशोभन और अनुचित लगता है—ऐसा किसी भी मनुष्य का अनुभव नहीं। इसका कारण क्या है ? यही कि नग्नता एक प्राकृतिक स्थिति है। मनुष्य ने विकारों को आत्मसात् करते-करते अपने मन को इतना अधिक विकृत कर लिया है कि स्वभाव से सुन्दर नग्नता उससे सहन नहीं होती। दोष नग्नता का नहीं, अपने कृत्रिम जीवन का है। बीमार मनुष्य के आगे पके फल, पौष्टिक मेवे या सात्विक आहार स्वतन्त्रतापूर्वक नहीं रखा जा सकता। यह दोष खाद्य पदार्थ का नहीं, बीमार की बीमारी का है। यदि हम नग्नता को छिपाते हैं तो नग्नता के दोष के कारण नहीं बल्कि मनुष्य के मानसिक रोग के कारण। नग्नता छिपाने में नग्नता की लज्जा नहीं है। वरन् उसके मूल में विकारी मनुष्य के प्रति दयाभाव है, उसके प्रति संरक्षण-वृत्ति है। ऐसा करने में जहाँ ऐसी श्रेष्ठ भावना नहीं होती, वहाँ कोरा दम्भ है।

परन्तु जैसे बालक के सामने नराधम भी शान्त और पवित्र हो जाता है, वैसे ही पुण्यात्माओं तथा वीतरागों के सम्मुख भी मनुष्य, शान्त और गम्भीर हो जाता है। जहाँ भव्यता है, दिव्यता है, वहाँ ही मनुष्य विनम्र होकर शुद्ध हो जाता है। यदि मूर्तिकार चाहते तो माधवी लता की एक शाखा को लिंग के ऊपर से कमर तक ले जाते और नग्नता को ढकना असंभव न होता। लेकिन तब तो बाहुबली भी स्वयं अपने जीवन-दर्शन के प्रति विद्रोह करते प्रतीत होते। जब बालक सामने आकर नंगे खड़े हो जाते हैं, तब वे कात्यायनी व्रत करती मूर्तियों की तरह अपनी नग्नता छिपाने का प्रयत्न नहीं करते। उनकी निरावरणता ही जब उन्हें पवित्र करती है, तब दूसरा आवरण उनके लिए किस काम का ?"

ध्यानमग्न होते हुए भी मुखमण्डल पर झलकते स्मित के अंकन में मूर्तिकार की महत् परिकल्पना और उसके कला-कौशल की चरम श्रेष्ठता के दर्शन होते हैं। सिर और मुखाकृति के अतिरिक्त, हाथों, उंगलियों, नखों, पैरों तथा एड़ियों का अंकन इस कठोर दुर्गम चट्टान पर जिस दक्षता के साथ किया गया है, वह आश्चर्य की वस्तु है। सम्पूर्ण प्रतिमा को वास्तव में पहाड़ी की ऊँचाई और उसके आकार-प्रकार से संतुलित किया है। परम्परागत मान्यता के अनुसार, पर्वत की जिस चोटी पर बाहुबली ने तपश्चरण किया था वह पीछे की ओर विद्यमान है, और आज भी इस विशाल प्रतिमा के पैरों और पार्श्वों के निकट आधार प्रदान किये हुए है, अन्यथा यह प्रतिमा और भी ऊँची होती।

शिलाखण्डों में चींटियों आदि की बाँबियाँ अंकित की गयी हैं और कुछेक में से सर्पों को निकलते हुए अंकित किया गया है। इसी प्रकार दोनों ही ओर से निकलती हुई माधवी लताओं को पाँव और जाँघों से लिपटती और कन्धों तक बढ़ती हुई अंकित किया गया है, जिनका अन्त पुष्पों या बेरियों के बौर-गुच्छों के रूप में होता है। गोम्मेटश्वर के चरण जिस पादपीठ पर हैं वह पूर्ण विकसित कमल-रूप में है। कायोत्सर्ग-मुद्रा में गोम्मटेश्वर की इस विशाल वक्षयुक्त भव्य प्रतिमा के दोनों हाथ घुटनों तक लटके हुए हैं। दोनों हाथों के अंगूठे भीतर की ओर मुड़े हुए हैं मानो सब कुछ अन्तर्निष्ठ है, सब कुछ सहज-स्वाभाविक और स्वत:स्फूर्त है।

विस्मयकारी है समूचे शरीर पर दर्पण की भाँति चमकती पॉलिश, जिससे भूरे-श्वेत ग्रेनाइट प्रस्तर के दाने आलोकित हो उठे हैं। ऊँचे पहाड़ी शिखर पर खुले आकाश मे स्थित प्रतिमा को धूप, ताप, शीत, वर्षा, धूल, और आँधी के थपेड़ों से बचाने मे इस पॉलिश ने रक्षा-कवच का कार्य किया है। यह ऐसा तथ्य है जिसे इस प्रतिमा के निर्माताओं ने भलीभाँति समझ लिया था। ऐलोरा और अन्य स्थानो की गोम्मट-प्रतिमाओ से भिन्न, इस मूर्ति की देह के चारों ओर सर्पिल लताएँ बड़े ही सधे कौशल के साथ अंकित की गयी हैं। उनके पल्लव एक-दूसरे से उचित आनुपातिक दूरी पर इस प्रकार अंकित किये गये है कि उनसे प्रतिमा की भव्यता कम न हो।

किन्तु शिल्पी का मानव-प्रयत्न कभी भी परिपूर्ण नहीं हो सका, अत: अहकार के उच्छेद के लिए कलाकार ने मूर्ति की एक अंगुली को उसके अनुपात से छोटा बनाकर जानबूझकर ही अपनी लघुता का परिचय दिया है।

गोम्मटेश्वर-द्वार की बाईं ओर एक पाषाण पर शक संवत् 1102 का शिलालेख है जिसमे कन्नड कवि बोप्पण पण्डित ने मूर्ति की कला पर मुग्ध होकर कहा है :

अतितुंगाकृतियादोडागददरोल्सौन्दर्य्यमौन्नत्यमुं
नुतसौन्दर्य्यमुमागे मत्तिशयंतानागदौन्नत्यमुं ।
नुतसौन्दर्य्यमुमूर्जितातिशयमुं तन्नल्लि निन्दिर्द्दुवे
क्षितिसम्पूज्यमो गोम्टेश्वरजिनश्रीरूपमात्मोपम ॥

"जब मूर्ति आकार में बहुत ऊँची और बड़ी होती है तब उसमे प्राय: सौन्दर्य का अभाव रहता है। यदि बडी भी हुई और सौन्दर्य-बोध भी हो तो उसमें दैवी प्रभाव का अभाव खटकता है। लेकिन यहाँ तीनो के मेल से संसार द्वारा पूजित गोम्मटेश्वर की छटा अपूर्व हो गई।"

मूर्ति के दर्शनों का सौभाग्य जिसे भी मिलता है वह अलौकिक पावनता के प्रभाव से पवित्र हो जाता है। आँखें टकटकी बाँधे स्तम्भित, हृदय गद्गद, शरीर रोमांचित और भावनाएँ शान्ति के अजस्र गंगाजल से प्रक्षालित हो जाती हैं।

सोलहवीं सदी का एक दूसरा शिलालेख क्रमांक 516 दर्शनार्थी की भाव-विभोर स्थिति का वर्णन इस रूप में करता है—

आवि तीर्थव कोलविडु, हालुगोलनो,
इदु अमृतगोलनो, इदु गंगे नदियो,
तुंगभद्रेओ, इदु मंगलगोरियो, इदु
बृंदावनो, इदु शृंगारलोटमो
अयि, अयि या अयि, अयिये
बले, तीर्थ बले तीर्थ जया जया जया जया ॥

अर्थात् यह क्या कोई पावन सरोवर है, दूध से भरा कुण्ड है, या परिपूर्ण अमृत-कुण्ड है ? क्या यह गंगा है ? तुंगभद्र है ? मंगलागोरी है ? इसे वृन्दावन कहें या शृंगार विहार ? सदा सर्वदा जय हो इसकी, चिर जयवन्त हो तुम !

अभिषेक की अन्तःकथा

मूर्ति-निर्माण के उपरान्त स्वभावतः चामुण्डराय के मन में मूर्ति के अभिषेक की भावना जागी। ऊँचा मचान बनवाया। दूध के सहस्रों कलश मंगवाये गये। चामुण्डराय का प्रभाव, अधिकार और साधन असीम थे। एक बुढ़िया जो प्रति दिन मूर्ति का निर्माण देखती थी और गोम्मटेश्वर को नमस्कार करती रहती थी, उसके मन में भी इच्छा जागी कि वह भी भगवान के अभिषेक का पुण्य प्राप्त करे। फल की एक छोटी कटोरी (गुल्लिका) में इस बुढ़िया माई (अज्जी) ने दूध भरा और चल पड़ी अपनी मनोकामना पूरी करने। मूर्ति के पास पहुँच तो नहीं पाई पर उसने लोगों से बहुत अनुनय-विनय की कि थोड़ा-सा ही तो दूध है, जल्दी से चढ़ा देगी। लेकिन किसी ने उसकी बात न सुनी। वह कई दिन इसी तरह आती और निराश लौट जाती।

अभिषेक के लिए चामुण्डराय पहाड़ी की चोटी पर पहुँचे और दूध के कलशों से अभिषेक करना प्रारम्भ किया। जय-जय की ध्वनि के बीच वे कलश पर कलश भगवान बाहुबली की मूर्ति पर ढालने लगे। न जाने कितने कितने कलश मूर्ति पर ढाले गये, किन्तु सारा दूध मूर्ति की नाभि तक ही पहुँच पाया। नीचे तक पाँव का प्रक्षालन नहीं हो पाया। प्रयत्न करके जब चामुण्डराय अधीर हो गये, तो उन्होंने गुरु नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती से परामर्श माँगा। गुरु ने कहा—"देखो, यहाँ यह क्षीणकाय बुढ़िया प्रकट हुई है। उसके हाथ में दूध से भरी हुई छोटी-सी एक कलशी है (जो वास्तव में श्वेत गुल्लकेय फल का खोखला भाग है)। उसे भी अभिषेक करने दो।"

भला, क्या तो वह पात्र और कितना सा वह दूध ! किन्तु जब बुढ़िया की ओर से अभिषेक प्रारम्भ हुआ तो दूध मूर्ति के सारे शरीर को प्रक्षालता हुआ

पादतल तक पहुँच गया। चामुण्डराय के लिए यह पहले से भी अधिक आश्चर्य की बात थी। लेकिन क्षणान्तर में उनको स्वयं ही समझ में आ गया कि बात क्या हुई। बुढ़िया के रूप में शायद कोई देवी है जो कहना चाहती है :

"चामुण्डराय, इतनी बड़ी मूर्ति का आविष्कार, उसका निर्माण तुमने अपने पराक्रम से किया। दूध के सहस्रों कलशों से प्रक्षालन किया है। अपने यश की कामना तुम्हारे मन में है। किन्तु भक्ति के इस सारे वातावरण में तुम्हारे मन में यह अहंकार आ गया है कि तुमने कितना बड़ा काम किया है! अतः यह सब निष्फल है। भक्ति की सफलता के लिए तो बुढ़िया की यह छोटी सी फल की कलशी पर्याप्त थी। जिसकी दृष्टि भगवान बाहुबली के चरणों की ओर है उस गुल्लिका का दूध तो चरणों तक पहुँचना ही था। भगवान बाहुबली के मस्तकाभिषेक का पुण्य-फल सदा से यही रहा है कि मन में संयम की भावना आये, मद और अहंकार गलित हों, और आडम्बररहित एकाग्रता में भक्ति सार्थक हो! अहंकार रूपी शल्य का उच्छेद किये बिना स्वयं बाहुबली को भी केवलज्ञान प्राप्त नहीं हो सका।"

गोम्मटेश्वर मूर्ति का माप

सन् 1871 में मस्तकाभिषक के समय मैसूर शासन की ओर से मूर्ति का ठीक-ठाक नाप लिया गया था। वह इस प्रकार है—

	फुट	इंच
चरण से कर्ण के अधोभाग तक	50	0
कर्ण के अधोभाग से मस्तक तक (लगभग)	6	6
चरण की लम्बाई	9	0
चरण के अग्रभाग की चौड़ाई	4	6
चरण का अंगुष्ठ	2	9
पादपृष्ठ की ऊपर की गोलाई	6	4
जंघा की अर्ध गोलाई	10	0
नितम्ब से कर्ण तक	24	6
पृष्ठ-अस्थि के अधोभाग से कर्ण तक	20	0
नाभि के नीचे ऊपर की चौड़ाई	13	0
कटि की चौड़ाई	10	0
कटि और टेहनी से कर्ण तक	17	0
बाहुमूल से कर्ण तक	7	0
वक्षस्थल की चौड़ाई	26	0
ग्रीवा के अधोभाग से कर्ण तक	2	6

तर्जनी की लम्बाई	3	6
मध्यमा की लम्बाई	5	3
अनामिका की लम्बाई	4	7
कनिष्ठिका की लम्बाई	2	8

अहंकार को त्यागने और विनय की शिक्षा देने वाले गुरु नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती ने बाहुबली की मूर्ति का सफल अभिषेक करने वाली वृद्धा की मूर्ति स्थापित करने का परामर्श चामुण्डराय को दिया था। फलस्वरूप श्रवणबेल्गोल में भगवान बाहुबली की मूर्ति के चरणों के पास जो आंगन है, उसके बाहर गुल्लि-कायज्जी की मूर्ति भी चामुण्डराय ने स्थापित करवायी।



खण्ड : चार

श्रवणबेलगोल के शिलालेख
ध्वनि और प्रतिध्वनि

1

श्रवणबेल्गोल के शिलालेख
इतिहास और संस्कृति के संवाद-स्वर

[कर्नाटक में जैनधर्म और संस्कृति का ऐतिहासिक अध्ययन करने के लिए आए हुए चार सदस्यों का पूर्व-परिचित काल्पनिक दल]

पुराविद् : हमने जिन महत्वपूर्ण शिलालेखों का चन्द्रगिरि पर्वत पर अध्ययन किया है उनके सम्बन्ध में चर्चा कर लेना आवश्यक है ताकि हम अपने ज्ञान को क्रम-बद्ध लड़ी में पिरोते चलें।

वाग्मी : मैंने प्रयत्न किया है कि शिलालेख जो अनेक भाषाओं में हैं—प्राचीन तमिल और कन्नड, तेलगु, मराठी और मलयालम में......

अनुगा : और, अनेक लिपियों मे भी। तमिल की प्राचीन लिपि—ग्रंथ-तमिल, कन्नडलिपि में संस्कृत भाषा और मराठी भाषा, तथा मलयालम लिपि और नागरी लिपि में—ऐसे सभी शिलालेख हम लोगों ने यहाँ देखे हैं।

पुराविद् : लिपि के आधार पर लेखों का विश्लेषण करके देखा गया है। कन्नड, मलयालम, तमिल व तेलगु लिपि के लेखों को छोड़कर 36 लेखों की लिपि देवनागरी है और 17 लेखों की महाजनी या मुण्डी लिपि है जिसमें मात्राएँ नहीं होतीं। केवल अ और इ की मात्राओं से काम चलाया जाता है और ज-झ, ट-ड, ड-ण तथा ब-भ में कोई भेद व्यक्त नहीं होता। यह व्यापारियों की कामचलाऊ लिपि होती है।

वाग्मी : कुछ लेखों में पंजाब प्रदेश के पहाड़ी क्षेत्रों की टोकरी लिपि भी पाई जाती है।

भूतल : इसका अर्थ यह है कि श्रवणबेलगोल सारे भारत का पवित्र तीर्थ था, और जैन संस्कृति भारत-व्यापी थी। वाग्मीजी ने बहुत परिश्रमपूर्वक इन शिलालेखों को पढ़ा है और अनुगा, फोटो द्वारा उनकी प्रतिकृति ले ली, इससे अध्ययन में सुविधा हो गई।

अनुगा : मैंने प्रयत्न तो किया है, किन्तु अनेक चित्र साफ नहीं आये, क्योंकि शिलालेख पुराने पड गये हैं, अक्षर घिस गये हैं, यहाँ तक कि मिट भी गये हैं।

पुराविद् : जो लेख टूट गये, इधर-उधर फेंक दिये गये, या अज्ञानतावश यहाँ के वहाँ जड दिये गये या विलुप्त हो गये—हमारी वह ऐतिहासिक सम्पदा, सांस्कृतिक जानकारी का वह कोष सदा के लिए क्षय हो गया, या फिर क्षत-विक्षत हो गया।

वाग्मी : यही कारण है कि अनेक शिलालेखों को ठीक-ठीक पढ़ना कठिन हो जाता है। कई खण्डित नाम इसीलिए पढ़े जा सके या पूरे किये जा सके क्योंकि वे इतिहास-प्रसिद्ध नाम हैं जिनका ज्ञान पुराविद्जी को है। कई नाम आचार्यों के हैं जिनका परिचय अन्य स्रोतों से श्रुतज्ञजी को है।

श्रुतज्ञ : एक बात जो विशेष सहायक हुई है, वह यह कि श्रवणबेलगोल का पूरा परिवेश धार्मिक और सांस्कृतिक रहा है, अतः जहाँ कुछ थोड़ा-सा भी पढ़ा गया और आगे-पीछे के शब्दों के कुछ अक्षर भी स्पष्ट हुए तो पूरे प्रसंग को समझने का प्रयत्न सम्भव हो जाता है कि किस राजा या सेनापति के काल में कौन आचार्य थे और कौन किसका शिष्य था। आचार्यों और साधुओं की गुरु-शिष्य पट्टावली शास्त्रों में दी ही है। समाधिमरण, सल्लेखना और संन्यास सैकड़ों-हजारों मुनियों, राजाओं, सेनापतियों, श्रावक-श्राविकाओं के जीवन की साध रहे हैं। व्रत-उपवास करते हुए, तपस्या करते हुए, आध्यात्मिक चिन्तन में लीन रहकर गुरु के सान्निध्य में शान्ति और समता पूर्वक जिन्होंने जीवन की दैहिक लीला समाप्त की उन भव्यजनों के धार्मिक प्रसंग शिलालेखों के अनेक संदर्भों को सार्थक कर देते हैं।

अनुगा : पुराविद्जी, हमने जिस शिलालेख क्रमांक 1 का अध्ययन किया, उसमें उल्लेख था कि इस कटवप्र पर्वत अर्थात् इस चन्द्रगिरि पर्वत पर सात सौ ऋषियों ने समाधि प्राप्त की। आचार्य भद्रबाहु के देहत्याग के लिए संन्यास शब्द का प्रयोग हुआ है। यह समाधिमरण, सल्लेखना, संन्यास क्या है? इसे कुछ लोग आत्म-हत्या क्यों मान लेते हैं?

पुराविद् : समाधिमरण को आत्म-हत्या मानना बहुत बड़ा अज्ञान है। श्रुतज्ञजी, आप बताते थे कि समाधिमरण तो एक विधान है, उसकी एक विशेष विधि है?

श्रुतज्ञ : हाँ, आचार्य समन्तभद्र कृत 'रत्नकरण्ड-श्रावकाचार' में इस विधि के सम्बन्ध में पर्याप्त लिखा गया है।

पुराविद् : आचार्य समन्तभद्र का समय ईस्वी सन् की दूसरी शती का उत्तरार्ध है। हाँ, श्रुतज्ञजी आप सल्लेखना या समाधिमरण के विषय में बता रहे थे न ?

श्रुतज्ञ : श्रावकाचार में लिखा है—

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतिकारे ।
धर्माय तनु-विमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः ॥

अर्थात् जब उपसर्ग हो जाए, दुर्भिक्ष पड़ जाए, बुढ़ापा आ जाए या स्थिति ऐसी लगे कि अब इसका कोई प्रतिकार नहीं—जीवनलीला तो समाप्त होनी ही है—तब धर्म-भावना को अन्तरंग में सुरक्षित रखने लिए व्यक्ति संयम और साधनापूर्वक शरीर का विमोचन करे, उसे समाप्त हो जाने दे, आचार्यों ने इसे सल्लेखना कहा है। यही समाधि-मरण है। अर्थात् व्यक्ति आत्म-धर्म (निज-स्वाभाव) में लीन रहे, और शरीर छूट जाए। कितनी बड़ी समता और संयम आवश्यक है इस विधि के लिए !

अनुगा : ठीक है, आत्म-हत्या तो एक आवेग है। उसमें भावनाओं की शान्ति नहीं, वह तो घोर आत्म-हनन है।

श्रुतज्ञ : शास्त्रो में सल्लेखना की विधि की पूरी चर्चा है। सल्लेखना धारण करने से पूर्व श्रावक स्नेह और वैर दोनों भावों का त्याग करके वीतराग हो जाए, परिग्रह का त्याग करके मन को शुद्ध करे, अपने बन्धु-बान्धवों से प्रियवचन कहकर क्षमा माँगे, उन्हें क्षमा करे। शास्त्र के वचनों द्वारा अपने मन को प्रसन्न और उत्साहित करे। उत्तरोत्तर अन्न का आहार छोड़कर दूध लेना प्रारम्भ करे। दूध छोड़कर मट्ठा, उसे भी छोड़कर गर्म जल, फिर वह भी छोड़ दे। उपवास करे।

पुराविद् : वास्तव में हिन्दू समाज में काशी-वास की भावना भी मोटे रूप से यही है। जैन संस्कृति में इसे अध्यात्म और साधना की कोटि में रख कर निश्चित पद्धति का निर्देशन किया गया है।

अनुगा : क्षमा कीजिए, यह तो प्रसंगवश मैंने प्रश्न कर लिया। वास्तव में तो हम शिलालेखों की चर्चा लिये बैठे हैं।

वाग्मी : यह चर्चा भी शिलालेखों की ही है। मैं कुछ उदाहरण देता हूँ जिन लेखों में उल्लेख है कि कितने दिन के व्रत-उपवास या तपस्या के उपरान्त किसका समाधिमरण हुआ। शिलालेख क्रमांक 1 पढ़ ही चुके हैं। शिलालेख क्रमांक 23 उदाहरणार्थ लें :

"अदेयरेनाड चित्तूर मौनिगुरवडिगल शिविसियर् नाममतिगन्तियर् मूरु तिंगल् नोन्तु मुडिप्पिदर् ।"

अर्थात् अदेयर राष्ट्र के चित्तूर स्थान के मौनि गुरु की शिष्या नागमति गन्तियर् (साध्वी) ने तीन मास के व्रत के पश्चात् शरीरान्त किया। सबसे आश्चर्य का शिलालेख क्रमांक 25 (पार्श्वनाथ बसदि के दक्षिण-पश्चिम में) है—

"बाला मेल्सिलि मेले सर्प्पद महाबन्ताग्रबुल् सल्बबोल्
सालाम्बाल-तपोग्रविन्तु नडबों नूरेन्टु-संवत्सरं
केलौय्पिन्कटवप्रशैलमडहूँनम्मा कलन्तूरनं
बाले पेर्गोरवं समाधि-नेरेदोन नोन्तेय्दिदौरं स्सिद्धियान्"

—बाले ! कलन्तूर के उन महामुनि की बात सुनो जिन्होंने पहले पवित्र कटवप्र पर्वत पर आरोहण किया, और फिर 108 वर्षों तक घोर तपस्यारत रहे—जो इतनी कठिन थी कि मानो तलवार की तेज धार पर चल रहे हों, या अग्नि की शिखा पर या महाविषधर नाग के फण पर चल रहे हों। इन महान् गुरु ने व्रत धारण किए, समाधि में स्थित हुए और सिद्धपद प्राप्त किया।

श्रुतज्ञ : समाधिमरण के प्रसंग में यह बात बहुत महत्त्व की है कि यदि हम श्रवण-बेलगोल के लगभग 573 शिलालेखों की विषय-वस्तु का विश्लेषण करें तो उनमे 100 लेख मुनियों, आर्यिकाओं और श्रावक-श्राविकाओं के समाधिमरण से सम्बन्धित हैं। ये शिलालेख इतने पुराने हैं कि चन्द्र-गिरि के 54 लेखों में से 41 जो सातवीं शताब्दी के हैं, और 20 में से 10 जो आठवी शताब्दी के हैं, सब समाधिमरण और संन्यास की प्रभावना से सम्बद्ध हैं।

अनुगा : पुराविद्‌जी, आपने इतिहास की दृष्टि से जो लेख पढ़े हैं वे किस प्रकार के हैं ?

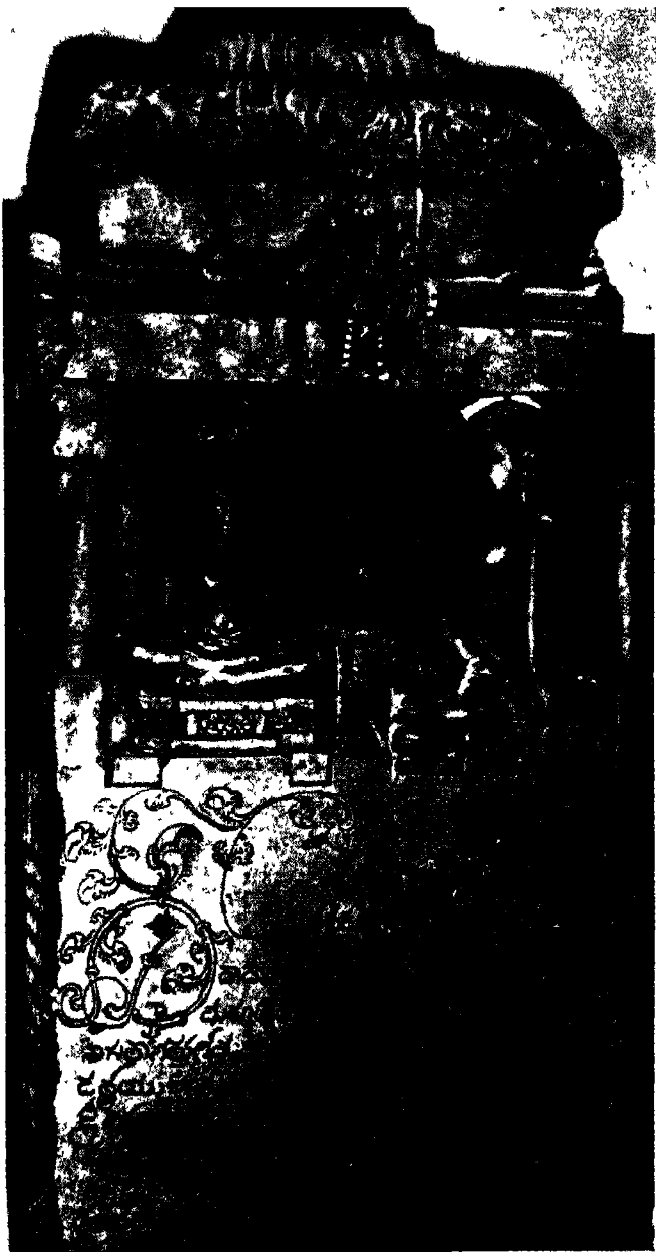
पुराविद् : अच्छा हुआ कि मैंने यह विश्लेषण कर लिया था अन्यथा संख्या न बता पाता। 40 लेख ऐसे हैं जिनमें योद्धाओं की स्तुति है, या आचार्यों की प्रशस्ति है, या स्थान विशेष के नामों का उल्लेख है। 160 लेख संघों और यात्रियों की याद के हैं जिन्होंने चन्द्रगिरि और विन्ध्यगिरि पर्वतों की तीर्थयात्रा की। यह भी बता दूं कि 107 लेख दक्षिण से आए हुए संघों या यात्रियों के हैं और 53 उत्तर भारत के।

अनुगा : फिर एक प्रमाण सामने आया कि श्रवणबेल्गोल सारे भारत की सांस्कृतिक आस्था का प्रतीक है।

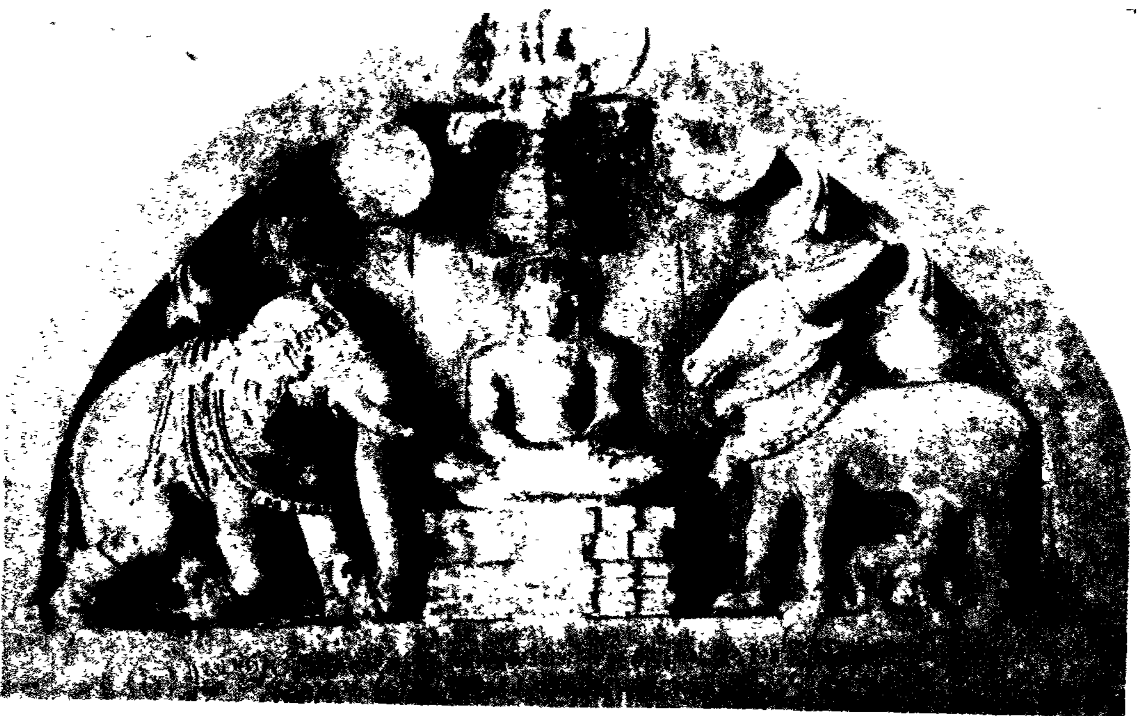
वाग्मी : अन्तरंग महानता और पावन प्रयत्नों का परिचय मैं दे दूं ?

पुराविद् : आपका अभिप्राय ?

वाग्मी : यह कि शेष 200 शिलालेखों की विषयवस्तु में 100 शिलालेख मन्दिरों



10. चन्द्रगिरि पर पार्श्वनाथ बसदि के एक स्तम्भलेख का ऊपरी भाग आचार्य मल्लिषेण की सल्लेखना का दृश्य



11. गोम्मटेश्वर-मूर्ति के निकट एक शिलालेख का ऊपरी भाग

[भा० पु० म०, मैसूर]

के निर्माण, मूर्ति-प्रतिष्ठा, दानशाला, वाचनालय, रंगशालाएँ, तालाब, कुआ, कुण्ड, उद्यान आदि के निर्माण और जीर्णोद्धार से सम्बन्धित हैं, और 100 शिलालेख दान और उन दाताओं के स्मारक हैं जिनके द्वारा पूजा, अभिषेक, आहारदान, मन्दिरों की सुरक्षा के लिए व्यय आदि का प्रबन्ध, दिये गये ग्राम, भूमि और धन के दान से सम्पन्न हुआ।

अनुगा : ओह, यह तो श्रवणबेल्गोल की सांस्कृतिक विभूति का और इसके प्रभाव का एक पूरा चित्र ही उभर आया !

पुराविद् : मुझे तो यह भी लगता है कि धर्म और संस्कृति की झांकी प्रस्तुत करने वाले ये शिलालेख इतिहास की जानकारी की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण हैं। एक बात तो बहुत स्पष्ट है कि जिस प्रदेश में बारह हजार मुनियों का संघ आया, जहाँ इतने मन्दिर बने, जहाँ बाहुबली की विशाल प्रतिमाएँ स्थापित हुईं, दीर्घकाल तक आचार्यों, साधुओं और श्रावकों का समाधिमरण सम्भव हुआ, वहाँ के राजा, नरेश, सेनापति और उन सबके वंशज अवश्य इन प्रवृत्तियों के समर्थक थे। वास्तव में अनेक नरेश और राज-पुरुष स्वयं जैन थे, जैनाचार्यों के शिष्य थे।

वाग्मी : आचार्य भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त जिस संस्कार को जमा गए, वह कालान्तर में बराबर पुष्ट होता रहा।

श्रुतज्ञ : भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त की स्मृति चन्द्रगिरि पर्वत के जिस शिलालेख क्रमांक 1 से स्पष्ट होती है, उसके अर्थ के सम्बन्ध में अर्थात् भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में जो शंकाएँ उठायी जाती हैं, उस विषय में क्या कोई अन्य प्रमाण यहाँ नहीं हैं ?

पुराविद् : अवश्य हैं। देखिए, शिलालेख क्रमांक 34 (शक सं० 572 का) :

भद्रबाहु सचन्द्रगुप्त-मुनीन्द्रयुग्मदिनोप्पेवल् ।
भद्रमागिद धर्म्ममन्दु वलिक्केवन्दिनिसल्कलो ॥
विद्रुमाधर शान्तिसेन-मुनीशनाक्किएवेल्गोल ।
अद्रिमेलशनादि विट्टपुनर्भवक्करे आगि...॥

अर्थात् जो जैनधर्म भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त मुनीन्द्र के तेज से भारी समृद्धि को प्राप्त हुआ था, उसके किंचित् क्षीण हो जाने पर शान्तिसेन मुनि ने उसे पुनरुत्थापित किया। इन मुनियों ने बेल्गोल पर्वत पर अशन आदि का त्याग कर पुनर्जन्म को जीत लिया।

वाग्मी : पार्श्वनाथ बसदि के एक स्तम्भ पर लेख क्रमांक 77 भी दर्शनीय है—

वर्ण्यः कथन्नु महिमा भण भद्रबाहोर्
मोहोरु-मल्ल-मद-मर्द्दन-वृत्तबाहोः ।

यच्छिष्यताप्तसुकृतेन स चन्द्रगुप्तः
शुश्रुष्यतेस्म सुचिरं वन-देवताभिः ॥

अर्थात् उन महान् भद्रबाहु की महिमा का वर्णन किस प्रकार किया जा सकता है, जिनकी भुजाएँ मोहरूपी मल्ल के मद का मर्दन करने के कारण बलिष्ठ हो गई हैं, जिनका शिष्य बनने के कारण चन्द्रगुप्त की इतनी पुण्य-महिमा हुई कि वनदेवता उसकी सेवा-सुश्रुषा करने लगे।

श्रुतज्ञ : इसी शिलालेख में तो है न, पहली शताब्दी के महान् दिगम्बर आचार्य समन्तभद्र की वह उक्ति जिसका आशय है—"पहले मैंने पाटलिपुत्र मे शास्त्रार्थ की भेरी बजायी, फिर मालव, सिन्धु और ठक्कप्रदेश में, फिर काँचीपुर और विदिशा में। अब मैं करहाटक प्रदेश में आया हूँ जहाँ विद्या धारण करनेवाले योद्धाओं की भीड़ है। हे राजन्, मैं शास्त्रार्थ करने का अभिलाषी हूँ और दिखाना चाहता हूँ कि इस भीड में शार्दूल (सिंह) कैसे विनोदपूर्वक क्रीडा करता है?" हाँ, यह है वह उक्ति—

पूर्व्वं पाटलिपुत्र-मध्य-नगरे भेरी मया ताडिता
पश्चान्मालव-सिन्धु-ठक्क-विषये कांचीपुरे वैदिशे।
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं
वादार्थी विचराम्यहम्नरपते शार्दूलविक्रीडितम् ॥

वाग्मीजी, इसके आगे का श्लोक आप पढ़ दीजिए। संस्कृत समासों की छटा आपके मुख से अधिक शोभा देगी।

वाग्मी : नहीं, शोभा तो आप ही के मुख से देगी, फिर भी मैं पढ़ देता हूँ। (कुछ रुककर) नहीं नहीं, इस सुन्दर श्लोक को अनु बिटिया पढ़कर सुनाए।

अनुगा : आपकी आज्ञा। करती हूँ प्रयत्न।

अवटु तटमटति झटिति स्फुट-पटु-वाचाटधूर्ज्जटेरपि जिह्वा।
वादिनि समन्तभद्रे स्थितवति तव सदसि भूप कास्थान्येषाम् ॥

वाग्मी : सुन्दर! सारांश यह कि जब समन्तभद्र शास्त्रार्थ के लिए सामने खड़े हो जाते हैं तब बड़े-से-बड़े धूर्जटि की जिह्वा तालु के पीछे लग जाती है।

पुराविद् : धूर्जटि शब्द टकार की शृंखला के प्रयोग द्वारा काव्य के चमत्कार के लिए ही प्रयुक्त है। किन्तु यह तो हम काव्य की माधुरी में भटक गए! इतिहास की बात तो बीच में ही रह गई।

श्रुतज्ञ : अच्छा है, इतिहास-रस के साथ काव्य-रस भी चलता रहे।

पुराविद् : बहुत अच्छा कहा आपने। मैं तो मानता हूँ कि नव रसों के साथ-साथ

एक दसवाँ रस 'इतिहास-रस' भी होना चाहिए । भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त की चर्चा में एक शिलालेख का संदर्भ मै श्रवणबेल्गोल से बाहर का, किन्तु फिर भी श्रवणबेल्गोल के अन्दर का, देना चाहता हूँ।

मनुगा : पुराविद्‌जी, यह कैसे संभव है कि बाहर का भी है और भीतर का भी ?

पुराविद् : अभिप्राय यह है कि वह शिलालेख है तो श्रीरंगपट्टन का, ई० सन् 900 का, किन्तु उसका संदर्भ है श्रवणबेल्गोल का । उसमें कहा गया है कि कलबप्पु शिखर (चन्द्रगिरि) पर महामुनि भद्रबाहु और चन्द्र-गुप्त के चरण-चिह्न हैं।

वाग्मी : इतिहास के अध्येताओं में लेख क्रमांक 1 को लेकर जो विवाद है और जिन-जिन विद्वानो ने भद्रबाहु, प्रभाचन्द्र और चन्द्रगुप्त के सम्बन्ध में मन्तव्य दिए हैं उनका निष्कर्ष कही आया होगा । वह क्या है ?

पुराविद् : पुरातत्त्व के धुरन्धर विद्वान् रायबहादुर नरसिंहाचार्य ने, जिन्होने अपना सारा जीवन लगाकर श्रवणबेल्गोल के शिलालेखो का अध्ययन किया है, उनका पाठ और अर्थ निश्चित किया है, वे इन शिलालेखों के संग्रह के संपादक भी हैं। अतएव उनके द्वारा निकाला गया निष्कर्ष ही प्रमाण है। यह लेख क्र० 251 (11वी शती) जो भद्रबाहु गुफा में उत्कीर्ण है—

'श्रीभद्रबाहु स्वामिय पादमं जिनचन्द्र प्रणमतो।"

अर्थात् जिनचन्द्र ने भद्रबाहु स्वामी के चरणों को नमस्कार किया। इसी प्रकार लेख क्र० 254 (13वीं शती) में—चिक्कबेट्ट (चन्द्रगिरि) के शिखर पर जो चरण-चिह्न अंकित हैं, उनके सम्बन्ध मे लिखा है कि ये भद्रबाहु स्वामीके चरण हैं :

"भद्र बाहु-भलि-स्वामिय पाद।"

लेख क्र० 364 (ई० सन् 1432) में विन्ध्यगिरि पर्वत पर स्थित सिद्धर-बसदि के स्तम्भ पर श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी और चन्द्रगुप्त का उल्लेख है :

"यो भद्रबाहुः श्रुतकेवलीनां मुनीश्वराणामिह पश्चिमोऽपि।
अपश्चिमोऽभूद्विदुषां विनेता सर्व्व-श्रुतार्थप्रतिपादनेन ॥
तदीय-शिष्योऽजनि चन्द्रगुप्तः समग्रशीलानतदेववृद्धः।
विवेश यत्तीव्रतपःप्रभाव-प्रभूत-कीर्त्तिर्भुवनान्तराणि ॥"

लेख क्र० 71 (सन् 1163) में भद्रबाहु को श्रुतकेवली कहा गया है और चन्द्रगुप्त को उनका शिष्य—

(श्री) भद्रस्सर्व्वतो यो हि भद्रबाहुरिति श्रुतः
श्रुतकेवलिनाथेषु चरमपरमो मुनिः ।
चन्द्र-प्रकाशोज्जवल-सान्द्र-कीर्तिः
श्रीचन्द्रगुप्तोऽजनि तस्य शिष्यः ।।

लेख क्र० 77 (सन् 1129) में भद्रबाहु और उनके शिष्य चन्द्रगुप्त का जो उल्लेख मिलता है उसके सम्बन्ध में अभी-अभी वाग्मीजी ने बताया भी है कि उनकी सेवा वनदेवताओं द्वारा निरन्तर की जाती रही है—"शुश्रूषेस्म सुचिरं वन-देवताभिः ।"

अनुगा : इस सम्बन्ध में मैंने जो पढ़ा है वह विन्सेंट स्मिथ का मत है। मैंने नोट किया है :

"चन्द्रगुप्त मौर्य का घटनापूर्ण राज्यकाल किस प्रकार समाप्त हुआ इस पर ठीक प्रकाश एकमात्र जैन कथाओं से ही पड़ता है। जैनियों ने सदैव उसे मगध सम्राट् बिम्बसार के सदृश जैन धर्मावलम्बी माना है—इसे झूठ कहने का कोई उपयुक्त कारण नहीं।···शैशुनाग, नन्द और मौर्यकाल में मगध में जैनधर्म जोर-शोर पर था। चन्द्रगुप्त ने राजगद्दी एक कुशल ब्राह्मण की सहायता से प्राप्त की यह चन्द्रगुप्त के जैन होने के विरुद्ध नहीं पड़ती। 'मुद्राराक्षस' नाटक में उल्लेख है कि एक जैन साधु नन्द नरेश का और बाद में मौर्य सम्राट् के मन्त्री राक्षस का घनिष्ठ मित्र था। एक बार जब चन्द्रगुप्त को जैन-धर्मावलम्बी मान लिया तो फिर बारह वर्ष का दुर्भिक्ष, भद्रबाहु से जिनदीक्षा, दक्षिण की ओर गए संघ का श्रवणबेलगोल पहुँचना, भद्रबाहु के द्वारा वहाँ शरीर का त्याग, बारह वर्ष पश्चात् राजर्षि चन्द्रगुप्त द्वारा समाधिमरण किया जाना···सब मान्य हो जाता है। इसका समर्थन श्रवणबेल्गोल के मन्दिरों, सातवीं शती के शिलालेखों तथा दसवीं शती के ग्रन्थों से होता है···"

"ईसापूर्व 322 में जब चन्द्रगुप्त सिंहासनारूढ़ हुए तो तरुण थे। जब 24 वर्ष पश्चात् उनके राज्य का अन्त हुआ, तब उसकी अवस्था 50 वर्ष से कम रही होगी। अतः उनका राजपाट त्याग देना, उनके इतनी कम अवस्था में मौर्यवंश के इतिहास से लुप्त हो जाने का उपयुक्त कारण प्रतीत होता है। राजाओं के इस प्रकार विरक्त हो जाने के अन्य भी अनेक उदाहरण हैं, और बारहवर्ष का दुष्काल भी अविश्वस-नीय नहीं। संक्षेपतः अन्य कोई वृत्तान्त उपलब्ध न होने के कारण जैन कथा ही सर्वोपरि प्रमाण है।"

उत्तरकालीन इतिहास

पुराविद् : उत्तरकालीन इतिहास की दृष्टि से श्रवणबेल्गोल के शिलालेखों का बहुत महत्त्व है। यदि सबसे पहले किसी शिलालेख पर ध्यान जाता है तो···लेकिन, श्रुतज्ञजी आप बतायें—

श्रुतज्ञ : राज्य की रक्षा, युद्धों में शत्रुओं का मान-मर्दन, उनकी पराजय, शूरवीरता के उच्चतम मानदण्ड और इतने सब विजयोल्लास के उपरान्त धर्माचार्य की शरण में जाकर समाधिमरण द्वारा समता-भाव से शरीर-त्याग का सबसे प्रभावकारी उदाहरण श्रवणबेल्गोल के समीप कांचिनदोणे के कूगे ब्रह्मदेव स्तम्भ के दसवीं शताब्दी के शिलालेख (क्र० 64) में है जिसमें गंगवंश के राजा मारसिंह का वर्णन है। शिलालेख प्रारम्भ होता है मैत्री के संदर्भ से कि मारसिंह ने :

- राष्ट्रकूट नरेश कृष्णराज तृतीय के लिए गुर्जर देश को विजय किया,
- कृष्णराज के विपक्षी अल्ल का मद चूर किया,
- विन्ध्यपर्वत की तराई में रहने वाले किरातों के समूहों को जीता,
- मान्यखेट में कृष्णराज की सेना की रक्षा की,
- इन्द्रराज चतुर्थ का अभिषेक कराया,
- पातालमल्ल के छोटे भाई वज्जल को पराजित किया,
- वनवासी-नरेश की धन-सम्पत्ति का हरण किया,
- माटूरवंश को पराभूत किया,
- नोलम्ब कुल के नरेशों का सर्वनाश किया,
- काडुवट्टि जिस दुर्ग को नहीं जीत सका था, उस उच्चङ्गि दुर्ग को स्वाधीन किया,
- शबराधिपति नरग का संहार किया,
- चालुक्य नरेश राजादित्य को जीता,
- तापी-तट, मान्यखेट, गोनूर, उच्चङ्गि, बनवासि व पाभसे के युद्ध जीते; तथा चेर, चोल, पाण्ड्य और पल्लव नरेशों को परास्त किया।

इस लेख की अन्तिम पंक्तियों में राजा के द्वारा 'धर्म' पुरुषार्थ की साधना का उल्लेख इन शब्दों में मिलता है :

"···पलवेडे-नत्तोलं बलविगुर्तं मानस्तंभंगलुवं माडिसिदं। मंगलं। धर्मंमंगलं नमस्यं नडपिसिबलियमोन्दुवर्षं राज्यमं पत्तुविट्टू, बंकापुर-दोल् अजितसेनभट्टारकर श्रीपादसन्निधियोल् आराधनाविधियिं मुडिवे

(ब) सं नोन्तु समाधियं साधिसिदं ।"

अर्थात् उसने जैनधर्म का प्रतिपालन किया, अनेक जिनमन्दिर और मानस्तम्भ बनवाये, इन सब धार्मिक कार्यों को करने के उपरान्त एक वर्ष बाद राज्य-त्याग किया। तीन दिन की व्रत-साधना के उपरान्त बंकापुर में अजितसेन भट्टारक के श्रीचरणों के समीप समाधि-साधना की। ऐसे प्रतापी नरेश की जिन उपाधियों की छटा इस शिलालेख में है, वे इस वीर के अनुकूल ही हैं—गंगचूडामणि, गंगवज्र, नोलम्बान्तक, गुत्तिय-गंग, मण्डलिकत्रिनेत्र, गंगविद्याधर, गंगकन्दर्प, गंगसिंह, सत्यवाक्य, कोंकणवर्म-धर्म-महाराजाधिराज आदि।

पुराविद् : इस शिलालेख से और इतिहास के अनेक संदर्भों से यह स्पष्ट है कि गंगवंश और राष्ट्रकूट वंशों में मैत्री थी, और इस मैत्री का आधार प्रमुख रूप से जैनधर्म था। चोल-नरेश शैव थे, अतः उनकी पक्षधरता जैनेतर धर्म के प्रति अधिक रही।

अनुगा : अनेक शिलालेखों में जैनाचार्यों के सम्बन्ध में ऐसा वर्णन आता है कि वे शास्त्रार्थ में धुरन्धर थे, प्रतिवादियों को उन्होंने बारबार हराया। यह बात क्या मुख्य रूप से ठीक है ?

वाग्मी : हाँ, अनेक शिलालेख यहाँ मैंने पढ़े हैं। और, आचार्यों के जीवन-वृतान्त में, प्रशस्तियों में इस प्रकार की अनेक घटनाएँ हैं।

श्रुतज्ञ : शिलालेख क्रमांक 70 में उल्लेख है कि बारहवीं शताब्दी में महा-मण्डलाचार्य देवकीर्ति पण्डित ने चार्वाक्, बौद्ध, नैयायिक, कापालिक और वैशेषिकों को शास्त्रार्थ में हराया।

वाग्मी : यह लेख पढ़ने-सुनने योग्य है। सुनिए,

"जितमूर्जिनजिनपतिमतपयपंयोधिलीलासुधा करवं । चार्व्वाकाखर्व-गर्व्वदुर्व्वारोर्व्वीधरोत्पाटनपटिष्ठनिष्ठुरोपात्तम्भदम्भोलिदण्डरं अकुण्ठ-कण्ठ-कण्ठीरव-गंभीर-भूरि-भीम-ध्वान-निर्द्दलितदुर्म्मदबौद्धम-दवेदण्डरं । अप्रतिहत-प्रसरदसम-ससदुपन्यसननित्यनैसित्य-पात्र-वात्र-दलितनैयायिकनयनिकरतरु । चपलकपिलविपुलविपिनदहन-दावा-नलरं । शुम्भदम्भोद-नाद-नोदितविलतवैशेषिकप्रकरमदमरालरं । शरदमलशशधर-करनिकर-नीहारहाराकारानुवर्ति-कीर्तिवल्लीवेल्लित-ललविगन्तरालरुमप्पश्रीमन्महामण्डलाचार्यरु श्रीमद्देवकीर्तिपण्डितदेवरु।

कुर्व्वेनमः कपिल-वादि-वनोघ-वह्नये

चार्व्वाक्-वादि-मकराकर-वाडवाग्नये ।

बौद्धोद्यवादिशिविरप्रविभेदभाम्बे
श्रीदेवकीर्तिमुनये कविवादिवाग्मिने ॥"

अर्थात् जिनेन्द्र भगवान के निर्मल ज्ञान का गुणगान सारे संसार में हो रहा है। उस (ज्ञान-सागर) के लिए जो चन्द्रमा के समान है; प्रतिवादी के परिहार के लिए वज्र है, चार्वाक् के अभिमान-पर्वत को चूर करने वाले, अपराजेय बौद्धगज के मद को सिंह-गर्जना के भयंकर प्रहार से पराभूत करने वाले, नैयायिकों के गर्व के सरकण्डों को तीक्ष्ण बुद्धि के हँसिये से नष्ट करने वाले, अपनी अनुपम वाणी के धारावाही चमत्कार से चंचल-मति कपिल-सिद्धान्त को इस प्रकार दहन कर देने वाले जैसे दावानल; चारों ओर व्याप्त वैशेषकों के हंस-दल को अपनी गम्भीर वाणी की गर्जना से पलायन-प्रवृत्त करने वाले···आदि।

श्रुतज्ञ : आपने देखा होगा वाग्मीजी, लेख क्रमांक 77 में मुनि महेश्वर के विषय में कहा गया है कि उन्होंने 70 शास्त्रार्थों में प्रसिद्ध प्रतिद्वन्द्वियों को जीता। इसी प्रकार शत्रु-भयंकर के विशाल महल पर विज्ञप्ति लगा दी गई थी कि मुनि विमलचन्द्र ने पाशुपत, बौद्ध, कापालिक और कपिल-सिद्धान्त के मानने वालों को जब चुनौती दी, तो सब उद्विग्न हो गये।

पुराविद् : यह तो वही लेख है जिसमें समन्तभद्र की शास्त्रार्थ विजय का उल्लेख है जिसकी चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं।

वाग्मी : मुझे एक दूसरे लेख का ध्यान आ रहा है। वह है लेख क्रमांक 360 जिसमें कहा गया है कि चारुकीर्ति का यश इतना प्रशस्त था, कि चार्वाकों को अपना अभिमान, सांख्य को अपनी उपाधियाँ, भट्ट को अपने सब साधन और कणाद को अपना छल छोड़ना पड़ा।

कत्तले बसदि के लेख क्रमांक 79 में बड़े रोचक ढंग से गोपनन्दि आचार्य की शास्त्रार्थ-प्रतिभा का वर्णन है :

"मलेयदे शांख्य मट्टुविर भौतिक पोंगि कडंगि बागदि
सोंलतोलबुड बौद्ध तले-दोरदे वैष्णवडंगडंगु बाग्-
बलद पोडर्प्पु बेड गड चार्व्वाक चार्व्वाक निम्म दर्प्पमं
सलिसदे गोपणन्दि-मुनिपुंगवनेम्ब मदान्ध-सिन्धुरं ॥"

अर्थात् 'सांख्यगणो! विरोध न करो, चुप हो जाओ। भौतिक अहंकार से फूल न जाओ। बुद्धमान बौद्धो, अपना शीष न दिखाओ, जाओ, जाओ। ओ वैष्णवो, अपने आपको छुपा लो, छुपा लो। ओ मृदुभाषी चार्वाको, अपनी वाणी की शक्ति का अहंकार छोड़ दो। भला मुनि-

पुंगव गोपनन्दि, जो मत्त गज की भाँति हैं, तुम्हारे दर्प को सहन करेंगे ?'

आगे लिखा है :

"षड्दर्शन के मार्ग पर चलने वाले विरोधी हाथियों को इस एक गज ने खदेड़कर भगा दिया। जैमिनी आतंकित हो गये, सुगत रुक गये और पराजय की मोहर लगा दी, अक्षपाद ने झट से चूड़ियाँ पहन लीं, लोकायतों का गर्व खर्व हो गया और सांख्य प्राण बचाकर भागे।"

पुराविद् : किन्तु यह लेख सन् 1398 का है। चौदहवीं शताब्दी के अन्त तक, विशेषकर 11-12वीं शताब्दी में जैनाचार्यों का इतना अधिक प्रतिवाद हुआ और जैनधर्म पर इतने अत्याचार हुए कि आचार्यों और गुरुओं को अपने सिद्धान्त की श्रेष्ठता के लिए शास्त्रार्थ करने पड़े। जैन ज्ञान का तर्क और सिद्धान्तपक्ष बहुत प्रबल रहा आया और उसकी पृष्ठभूमि में इन आचार्यों का ज्ञान-बल ही उनका एकमात्र सहायक था। शास्त्राचार्य का गर्व भी कितना वाचाल था !

अनुज्ञा : कहते हैं जैन साधुओं में तप की सिद्धि के कारण अलौकिक चमत्कार भी उत्पन्न हो जाते थे ?

वाग्मी : हाँ, ऐसे प्रसंग भी हैं कि किस प्रकार किसी मुनि ने किसी राजा के सर्पदंश का विष दूर कर दिया। सिद्धर बसदि के स्तम्भ पर उत्कीर्ण शिलालेख क्रमांक 360 में कहा गया है कि चारुकीर्ति पाण्डित ने युद्ध क्षेत्र में मृतप्राय राजा बल्लाल को तत्काल स्वस्थ कर दिया था। उनके सम्बन्ध में एक दूसरे शिलालेख, क्रमांक 364 में कहा गया है कि चारुकीर्ति मुनि के शरीर को छूकर जो वायु प्रवाहित होती थी वह रोगों को शान्त कर देती थी।

श्रुतज्ञ : लेकिन, जैन मुनियों ने मन्त्र-तन्त्र और चमत्कार को धर्म-प्रचार का साधन नहीं बनाया। बल्कि विचित्र बात तो यह है कि जैन शासन के पराभव की दुःखद घटना उक्त राजा बल्लाल के बाद सन् 1109 में विष्णुवर्धन बिट्टिगदेव के गद्दी पर बैठने के उपरान्त घटी। जैन सेनापतियों ने सहायता करके बिट्टिगदेव के राज्य को चोलों की अधीनता से मुक्त करवा दिया था। वह जैन धर्मावलम्बी था। किन्तु एक बार उसकी कन्या को किसी पिशाच ने ग्रस्त कर लिया। जैन आचार्य और पण्डितों ने प्रयत्न किया, किन्तु कन्या पिशाच-मुक्त न हो पाई। तभी रामानुज आचार्य ने उसे स्वस्थ कर दिया। और भी अनेक चमत्कार उन्होंने किये। परिणाम यह हुआ कि विष्णुवर्धन बिट्टिगदेव ने जैनधर्म का परित्याग कर दिया। इतना ही नहीं, उसने जैनियों

को कोल्हू में पिलवा दिया।

पुराविद् : यह बात प्रचलित तो है, लेकिन ऐसा भी उल्लेख मिलता है कि यद्यपि विष्णुवर्धन ने अपना धर्म परिवर्तन कर लिया था, किन्तु उसकी रानी शान्तलदेवी जैनधर्म की कट्टर भक्त थी। उसके पिता शैव थे, उसकी माता जिन-भक्त थी। शान्तलदेवी ने अपने गुरु प्रभाचन्द्र सिद्धान्तदेव की प्रेरणा से जैनधर्म की उन्नति के अनेक कार्य किये। उसने सन् 1123 में श्रवणबेल्गोल में शान्तिनाथ भगवान की मूर्ति स्थापित की। शान्तलदेवी ने श्रवणबेल्गोल का प्रसिद्ध मन्दिर बनवाया। मन्दिर का नाम भी विशेष—सवतिगन्धवारण, अर्थात् सौत रूपी हाथी के मद को चूर करने वाला, अथवा उच्छृंखल सौतों का गर्व चूर-चूर कर देने वाला मत्तहाथी।

अनुगा : कोई रूपवती एवं गर्विता नारी ही ऐसा करेगी।

पुराविद् : इसमें सन्देह नहीं कि शान्तल अत्यन्त रूपवती थी, गायन और नृत्य में कुशल। पति विष्णुवर्धन उसके वश में। साथ ही शिलालेख क्रमांक 176 और 162 में उसकी धार्मिकता की जो प्रशंसा लिखी है, वह भी उसके लिए गर्व की बात है। उनमें उसके पातिव्रत और धर्मपरायणता की भूरि-भूरि प्रशंसा है। उसे रुक्मिणी, सत्यभामा और सीता के समान कहा गया है। और, उसके वैराग्य की पराकाष्ठा यह कि 1131 ई० में उसने शिवगंग स्थान में सल्लेखनापूर्वक समाधिमरण किया!

वाग्मी : बार-बार कैसे यह तथ्य सामने आ जाता है कि अनेक सांसारिक उपलब्धियों—यश, मान-मर्यादा, रूप और गुण के गौरव के भोग के बीच के सांस्कृतिक प्रभाव में व्यक्ति अपने अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति से नहीं जैन धर्म चूकता—वहाँ सब कुछ त्याग, संयम और प्राणीमात्र के लिए समभाव में समाविष्ट हो जाता है।

श्रुतज्ञ : यह तीर्थंकरों की परम्परा का प्रताप है; गौतम गणधर और भद्रबाहु स्वामी जैसे निर्ग्रन्थ महामुनियों का प्रभाव है।

वाग्मी : आचार्यों के इस प्रसंग में हम कुन्दकुन्दाचार्य का उल्लेख कैसे भूल गये?

श्रुतज्ञ : उनका नाम मैं तो नहीं भूला। कैसे भूल सकते हैं उन्हें जो जैनधर्म के मंगल-स्मरण में भगवान महावीर और गौतम गणधर के बाद हृदय में विराजमान रहते हैं। प्रत्येक शास्त्र-सभा जिनके स्मरण से प्रारम्भ होती है। प्रत्येक गुरु-शिष्य-पट्टावली में जिनका नाम प्रमुख है। जैन सिद्धान्त के जो अद्वितीय आदि-व्याख्याताओं में हैं। जो शौरसेनी

प्राकृत में 'समयसार' जैसे श्रेष्ठ सिद्धान्त-ग्रन्थों के रचनाकार हैं। मथुरा प्रदेश की शौरसेनी प्राकृत को अपनी भाषा का आधार बनाकर जिन्होंने उत्तर की भावधारा को दक्षिण में और दक्षिण की विचार-धारा को उत्तर में प्रवाहित किया।

पुराविद् : श्रवणबेलगोल के शिलालेख इनके पुण्य-स्मरण से पूरित हैं।

श्रुतज्ञ : मूल संघ और कुन्दकुन्द-आम्नाय के आचार्यों की पट्टावली श्रवण-बेलगोल के शिलालेखों के आधार पर ही तो तैयार की गई है। उसे देखें तो सही—कितनी विशाल और समर्थ ज्ञान-परम्परा है यह ! **आचार्य-पट्टावली का प्रदर्शन**]

अनुगा : मेरा प्रश्न अधूरा रह गया। क्या जैनधर्म को विरोधियों का आक्रमण सहन नहीं करना पड़ा ? इस बात का क्या आधार कि तन्त्र-मन्त्र के चमत्कारों के कारण अन्य धर्मावलम्बी बाजी ले गये ?

पुराविद् : दसवीं शताब्दी के अन्त में राष्ट्रकूट और गंगराज वंश एक साथ पतनोन्मुख हो गये। और, उनके साथ ही जैनधर्म का प्रभाव क्षीण होता गया। उधर वीरशैवों के प्रति जैन मान्यतावालों का उपेक्षा भाव रहा। जब बसवेश्वर ने शैव धर्म का पुनरुद्धार किया और जैनियों का राज्य-संरक्षण प्रभावहीन हो गया तो बसव के उत्तराधिकारियों ने शान्तरों, चंगाल्वों और कारकल के भैरव ओडयरों, कुर्ग के राजाओं तथा अन्य छोटे-मोटे राज्यों के शासकों को जैनधर्म से पराङ्मुख बनाकर शैव-धर्म में दीक्षित कर लिया। यह इतिहास की स्वाभाविक गति थी। सन् 1195 के एक शिलालेख का उल्लेख 'मेडिवल जैनिज़्म' के पृष्ठ 281 पर मिलता है जिसमें कहा गया है :

"शिवभक्त एकान्त रामय्य समस्त शैव तीर्थों का दर्शन करने के पश्चात् पुलिगेरे आया। वहाँ के स्थानीय देवता सोमनाथ ने उसे जैनों के विरुद्ध धर्मयुद्ध करने के लिए प्रेरित किया। अतः रामय्य जैनों के एक प्रमुख केन्द्र अब्बलूर नामक स्थान में गया और उसने अपना प्रभुत्व प्रमाणित करने के लिए जैनों को चुनौती दी। उसने कहा कि वह अपने धर्म का महत्त्व प्रमाणित करने के लिए अपनी गरदन काट देगा और फिर शिव के प्रभाव से उसकी गरदन जुड़ जायेगी। यह सुन कर जैनों ने वचन दिया कि यदि वह ऐसा कर सकेगा तो हम लोग शैवधर्म स्वीकार कर लेंगे। उन्होंने एक ताड़पत्र पर इसको लिख भी दिया। रामय्य ने अपनी गरदन काटकर शिव को चढ़ा दी और सात दिन बाद उसकी गरदन पुनः जुड़ गयी। पश्चात् रामय्य ने जैनों को सताया और उनकी मूर्तियाँ तोड़ डालीं। जैनों ने राजा बिज्जल (1156-

1167 ई०)से शिकायत की। राजा ने रामय्य को बुलाया। रामय्य ने वह ताड़पत्र दिखलाया जिस पर जैनों ने अपना वचन लिखा था। उसने पुन: जैनों को चुनौती दी कि वे अपने सात सौ मन्दिरों को ध्वंस कर दें तो वह पुन: अपना सिर काटकर सात दिन में उसे जोड़ सकता है। किन्तु जैनों को उसकी चुनौती स्वीकार करने का साहस नहीं हुआ। राजा विज्जल ने रामय्य को विजयपत्र दिया और उसके देवता सोमनाथ के नाम कई गाँव दिये।

वाग्मी : किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि जैनधर्म का प्रभाव इन घटनाओं के कारण कर्नाटक प्रान्त से समाप्त हो गया। इतिहास की घटनाएँ आती और जाती हैं, किन्तु संस्कृति का वह प्रभाव जो जन-मानस में गहरे पैठ जाता है, जो भाषा, साहित्य और कला के माध्यम से स्थायी रूपाकार ले लेता है, वह समय के थपेड़ों को सहकर भी अक्षुण्ण रहता है।

श्रुतज्ञ : एक बात और भी है। यदि जैनधर्म और जैन धर्मायतनों के प्रति जनता की सद्भावना न होती तो उसकी सुरक्षा ही नहीं हो सकती थी। वैष्णव और जैनियों के अनेक विवादों को शासकों ने समाप्त किया और सद्भाव बढ़ाया। शिलालेख क्र० 475 (शक सं० 1290) इस विषय में विशेष महत्त्व रखता है। यह लेख विजयनगर-काल के बुक्कराय प्रथम का है। लेख का प्रारम्भ रामानुज की स्तुति से होता है—

"रामानुजो विजयते यति राज-राज"

फिर जो कहा गया है उसका अर्थ है :

"वीर बुक्कराय के राज्य-काल में जैनियों और वैष्णवों में झगड़ा हो गया। तब जैनियों में से आनेयगोण्डि आदि नाडुओं ने बुक्कराय से प्रार्थना की। राजा ने जनियों और वैष्णवों के हाथ से हाथ मिला दिये और कहा कि जैन और वैष्णव दर्शनों में कोई भेद नहीं है। जैन-दर्शन को पूर्ववत् ही पंच महावाद्य और कलश का अधिकार है। यदि जैनदर्शन को हानि या वृद्धि हुई तो वैष्णवों को इसे अपनी ही हानि या वृद्धि समझना चाहिये। श्रीवैष्णवों को इस विषय के शासन (आदेश) समस्त राज्य की बसदियों में लगा देना चाहिये। जैन और वैष्णव एक हैं, वे कभी दो न समझे जावें।"

और भी,

"श्रवणबेल्गोल में वैष्णव अंग-रक्षकों की नियुक्ति के लिए राज्य भर में जैनियों से प्रत्येक घर के द्वार पीछे प्रतिवर्ष जो एक 'हण' लिया

जाता है उसमें से तिरुमल के तातय्य देव की रक्षा के लिए बीस रक्षक नियुक्त होंगे और शेष द्रव्य जैन मन्दिरों के जीर्णोद्धार, पुताई आदि में खर्च किया जायेगा। यह नियम प्रतिवर्ष जब तक सूर्य-चन्द्र हैं तब तक रहेगा। जो कोई इसका उल्लंघन करे वह राज्य का, संघ का और समुदाय का द्रोही ठहरेगा। यदि कोई तपस्वी या ग्रामाधिकारी इस धर्म में प्रतिघात करेगा तो वह गंगातट पर एक कपिला गौ और ब्राह्मण की हत्या का दोषी होगा।"

वाग्मी : देखने की बात यह है कि कर्नाटक के शासकों ने किस प्रकार विभिन्न धर्म के अनुयायियों से सद्भाव बनाये रखने का प्रयत्न किया। जैनियों के अधिकार की रक्षा का निर्णय, वैष्णवों के धर्म की शब्दावलि में इस प्रकार किया गया कि जैनेतर व्यक्ति अपने वचन की रक्षा अपनी इष्ट-मान्यता की सौगन्ध खाकर करें। जैनों या वैष्णवों के लिए इससे बड़ा अभिशाप और क्या होगा कि यदि वह वचनभंग करते हैं तो ब्राह्मण की हत्या और गौवध के दोषी होंगे। इस खोटे कर्म की जघन्यता पर जोर देने के लिए एक श्लोक भी अन्त में खुदवा दिया :

स्वदत्तां परदत्तां वा यो हरेति वसुन्धराम्।
षष्टिवर्ष-सहस्राणि विष्टायां जायते कृमिः ॥

अर्थात् भूमि (धर्म कार्य के लिए) स्वयं दी हो या उसे किसी अन्य ने दिया हो, जो उसका हरण करेगा वह छह हजार वर्ष तक विष्टा का कीड़ा बना रहेगा।

पुराविद् : कर्नाटक में यह विवाद जैनों और वैष्णवों का ही नहीं था, शैवों और वैष्णवों में भी दार्शनिक सिद्धान्तों को लेकर भेद रहा—मूर्तियों और उपासना की पद्धतियों के कारण विवाद बढ़ा।

श्रुतज्ञ : किन्तु प्रत्येक विवाद का हल समता-भाव के कारण निकलता गया। शैव-वैष्णव विवाद का हल 'हरिहर' की संयुक्त मूर्ति की कल्पना द्वारा कर लिया गया।

वाग्मी : एक अर्थ में वीर-शैव धर्म के समर्थक गुरुओं ने समय को देखते हुए सामाजिक और धार्मिक सुधार के आन्दोलन चलाये। जनता उनकी ओर आकृष्ट हुई। तब वैष्णवों और जैनों को भी सावधान होना पड़ा। सबने अपने अपने धर्म और दर्शन का प्रचार जोर-शोर से प्रारम्भ किया। बड़ी हलचल का समय था वह। यही कारण है कि इन शताब्दियों में अनेक आचार्यों ने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की। श्रुतज्ञ जी, है न यह बात! कुछ नाम बताइये।

श्रुतज्ञ : अवश्य। कुछ आचार्यों के और उनके ग्रन्थों के नाम गिनवाता हूँ।

इनका उल्लेख शिलालेखों में है।

- लेख क्र० 360 के अनुसार उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र की प्रति को शिवकोटि सूरि ने अलंकृत किया।
- लेख क्र० 77 (सन् 1129) में कतिपय शास्त्रकारों और उनकी रचनाओं का उल्लेख इस प्रकार है :

  वज्रनन्दि मुनि——————नवस्तोत्र
  सुमतिदेव ——————सुमतिशप्तक
  चिन्तामणि ——————चिन्तामणि
  श्रीवर्द्धदेव ——————चूडामणि
  चन्द्रकीर्ति गणि——————श्रुतबिन्दु
  दयालपाल मुनि——————रूपसिद्धि

- लेख क्र० 71 (सन् 1163) के अनुसार पूज्यपाद देवनन्दि ने जैनेन्द्र व्याकरण, सर्वार्थसिद्धि, जैनाभिषेक तथा समाधिशतक की, और श्रुत-कीर्ति त्रैविद्य ने राघव-पांडवीय की रचना की।
- लेख क्र० 569 के अनुसार श्रीपाल त्रैविद्यदेव ने विजयविलास तथा लेख क्र० 364 (सन् 1432) के अनुसार चारुकीर्ति मुनि ने सारत्रय और सिद्धान्तयोगी ने सिद्धशास्त्र का प्रणयन किया।
- लेख क्र० 360 में कुन्दकुन्दाचार्य के सम्बध में उनके इस अतिशय का उल्लेख है कि वह आकाश-गमन कर सकते थे और पृथ्वी से चार अंगुल ऊपर तो चलते ही थे।

पुराविद् : हो सकता है, अलंकारिक भाषा में यह कहने का तात्पर्य हो कि वह अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह से अछूते रहते थे।

श्रुतज्ञ : सचमुच, यही वाक्य ज्यों का त्यों वहाँ आया है।

अनुगा : महिलाओं के समाधिमरण के तो अनेक उल्लेख आपने बताये, किन्तु उनके कृतित्व के कोई अन्य आयाम भी हैं ?

श्रुतज्ञ : वास्तव में श्रवणबेल्गोल के सारे परिवेश मे महिलाओं की भक्ति, त्याग, व्रतसाधना, सल्लेखना ही प्रमुख हैं। राज्य-व्यवस्था में किसी महिला का हाथ रहा हो, ऐसा कहीं मेरे देखने में नहीं आया।

पुराविद् : नहीं, ऐसा नहीं। इतिहास में उल्लेख है कि सन् 911 में जब नागरखण्ड के अधिकारी सत्तरस नागार्जुन का देहान्त हो गया तो राजकाज का दायित्व उसकी पत्नी जाविकयब्बे को संभालना पड़ा। उसने बड़ी दक्षता के साथ राज्य-संचालन किया। बड़ी वीरांगना थी वह। और, जब उसका अन्त समय समीप आया तो उसने बन्दनि नामक स्थान पर समाधिमरण पूर्वक शरीर त्यागा।

वाग्मी : रानियों और राजघरानों से सम्बन्धित महिलाओं के धार्मिक कार्यों का प्रचुरता से उल्लेख है :

(1) दसवीं शताब्दी की अत्तिमब्बे ने, जो सेनापति मल्लप की पुत्री और नागदेव की पत्नी थी, पोन्नकवि के शान्तिपुराण की एक हजार प्रतियाँ लिखवाकर शास्त्र-भण्डारों में भेजी। पन्द्रह हजार मूर्तियाँ सोने और रत्नों की बनवायी।

(2) इसी काल की पामब्बे ने, जो राजा भूतुग की बड़ी बहिन थी, तीस वर्ष तक तपस्या की। पोचब्बरसी, भाललदेवी, चट्टलदेवी, महादेवी, पम्पादेवी आदि अनेक महिलाओं के नाम भी आते हैं।

अनुगा : क्या कर्नाटक का कोई ऐसा राजवंश भी है जिसके प्रताप के साथ महिलाओं की कीर्ति सबसे अधिक जुड़ी हुई है?

श्रुतज्ञ : क्या समझते हैं, पुराविद्‌जी?

पुराविद् : इस श्रेणी में मुझे तो होय्सल वंश सर्वोपरि लगता है। सबसे अधिक शिलालेख भी इसी वंश के व्यक्तियों के हैं। कालक्रम से विष्णुवर्धन के 10, नरसिंह प्रथम के 3, बल्लाल द्वितीय के 4, नरसिंहदेव द्वितीय के 3। फिर 12वीं शताब्दी के 19 और तेरहवीं के 4। विष्णुवर्धन के समय में पोयसल् सेट्टि और नेमि सेट्टि की माताओं मच्चिकब्बे और शान्तिकब्बे ने चन्द्रगिरि के तेरिन बसदि का निर्माण कराया और फिर भानुकीर्ति मुनि से दीक्षा ले ली। (लेख 229, शक सं. 1039)।

वाग्मी : शिलालेखों के अनुसार गंगराज का कृतित्व बहुत विशिष्ट है!

पुराविद् : अवश्य। वह विष्णुवर्द्धन नरेश के सहायक राजपुरुष थे। लेखों में गंगराज की वंशावलि और उनकी उपलब्धियाँ विस्तार से दी गई हैं। लिखा है—

"जिस प्रकार इन्द्र का वज्र, बलराम का हल, विष्णु का चक्र, शक्तिधर की शक्ति और अर्जुन का गांडीव सहायक हैं उसी प्रकार विष्णुवर्द्धन के गंगराज सहायक थे।"

कन्नेगल के युद्ध में गंगराज ने विष्णुवर्द्धन की ओर से चालुक्यों को जीत लिया था और विष्णुवर्द्धन अत्यन्त प्रसन्न हुए थे।

श्रुतज्ञ : आप तो जानते ही हैं पुराविद्‌जी, कि नरेश ने प्रसन्न होकर गंगराज से कहा, 'आपकी जो मनोकामना हो कहें, मैं पूरी करूँगा।' और इस धर्मात्मा सेनापति ने विष्णुवर्द्धन से परम नामक गाँव माँगकर उन मन्दिरों को अर्पित कर दिया जो उसकी माता ने बनवाए थे। इसी प्रकार विजय के उपलक्ष्य में उसने राजा से गोविन्दवाडि ग्राम माँगा और उसे गोम्मटेश्वर को अर्पित कर दिया।

वाग्मी : इस वंश के राजपुरुष और महिलाएँ शुभचन्द्र सिद्धान्तदेव के शिष्य थे। सारा परिवार धर्म-रत था। गंगराज की भार्या लक्ष्मी ने अपने भाई बूच और बहिन देमेति की मृत्यु की स्मृति में शिलालेख लिखवाया, जैनाचार्य मेघचन्द्र की स्मृति में लेख उत्कीर्ण करवाया। इसी महिला ने एरडुकट्टे बसादि का निर्माण कराया। गंगराज की माता पोचब्बे की स्मृति में कत्तले बसदि नामक मन्दिर का निर्माण करवाया, शासन बसदि (इन्द्रकुलगृह) बनवाई। गंगराज ने अपनी बड़ी भाभी जक्कमब्बे (बम्मदेव की भार्या) की स्मृति में उसके सत्कार्यों का उल्लेख करने वाला लेख उत्कीर्ण करवाया। गोम्मटेश्वर का परकोटा बनवाया। प्रत्येक कार्य का उल्लेख अलग-अलग शिलालेखों में है।

अनुगा : किसी शिलालेख की कोई मनोरंजक बात ?

वाग्मी : श्रुतज्ञजी, बतायें, या पुराविद्‌जी !

पुराविद् : फिर तो सन् 982 के शिलालेख क्रमांक 163 की बात करनी होगी, जिसमें राष्ट्रकूट नरेश इन्द्र चतुर्थ की दक्षता का वर्णन है।

अनुगा : युद्ध में वीरता का ?

पुराविद् : नहीं, 'पोलो' के खेल का—उसे पोलो ही कहना चाहिये। लिखा है :

"श्रीगे विजयक्के विहृंगे ।
त्यागक्कदटिगे जसक्के पेर्म्पिगि नित-
क्कागरमिदेन्दु कन्दुक-
वागमदोले नेगल्गुमल्ते वीरर वीर ।
ओलगं दक्षिण सुकरदुष्करमं पोरगण सुकरदुष्करमेवमं
ओलगे वामदविषममनल्लिय विषमदुष्करम निम्नदर पोरग-
ण्णलिके येनिपति विषममनवरतिविषम दुष्करमेम्ब दुष्कमं
एलेयोलोर्व्वने वारिसल्वल्लंनात्कुप्रकरणमुमनिन्द्रराजं ।"···

अर्थात् यह वीरों में वीर इन्द्रराज कन्दुक (गेंद) का खेल खेलता है, क्योंकि वह मानता है कि इस क्रीड़ा में श्रीवृद्धि है, विजय है, विद्या-बुद्धि है, उदारता है, वीरता है, यश है, महानता है—सभी बातें हैं। संसार में इन्द्रराज ही एक ऐसा व्यक्ति है जो सभी प्रकार की कन्दुक-कला में दक्ष है। सुकर, दुष्कर, विषम और विषम-दुष्कर गति की गेंद वह चारों ओर फेंक सकता है। अन्दर, बाहर, दायें, बायें। चारों ओर फेंके जाने पर 338 चक्र बनते हैं। गेंद पर आघात लगाने के तो एक करोड़ तरीके हैं···और गेंद पर बल्ले का आघात इस तरह लगे कि ठीक निशाने पर जाये—न आगे बढ़ने पाए, न ओछी रह जाये।···गेंद चाहे काली मिर्च से भी छोटी हो, स्टिक चार अंगुल से भी

छोटी हो, थोड़ा पर्वत से भी विशाल हो, घेरा पृथ्वी जैसा बड़ा ही क्यों न हो, इन्द्रराज को सन्तोष नहीं होगा तब तक जब तक वह आठ या दस चक्र पूरे न कर ले।

श्रुतज्ञ : आश्चर्य है !

वाग्मी : वास्तव में शिलालेख में तो कन्दुक-क्रीड़ा का वर्णन और भी विस्तार से है—चौदहवें पद्य से चौबीसवें पद्य तक।

पुराविद् : सच बात तो यह है कि श्रवणबेलगोल के शिलालेख ही इतने महत्त्वपूर्ण हैं, सभी दृष्टियों से—धर्म, दर्शन, इतिहास, कला, साहित्य, आचार-व्यवहार, सामाजिक दिग्दर्शन, काव्यमाधुरी, भाषाओं का समागम, कि अनेक विद्वान् वर्षों तक इनका अध्ययन करें तो अनेक-अनेक शोध-ग्रन्थ तैयार हो जायें।

श्रुतज्ञ : हमने कितनी बातों की चर्चा की। मन होता है कि इस चर्चा के समाहार में हम सब शिलालेखों में से एक-एक श्लोक का पाठ करें। पहले मैं पढ़ता हूँ—

नागसेनमनघं गुणाधिकं नागनायकजितारिमण्डलम्।
राजपूज्यममलश्रीयास्पदं कामदं हतमदं नमाम्यहं ॥

वाग्मी :
यद्वत्पदाम्बुजनतावनिपालमौलि-
रत्नांशवोऽनिशममु विदधुः सरागम्।
यद्वन्न वस्तु न वधून्नं च वस्त्रजातं
नो यौवनं न च बलं न च भाग्यमिद्धम् ॥

अनुगा : श्रीमत्परमगम्भीर-स्याद्वादामोघलांछनं।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥

पुराविद् : संसारवनमध्येऽस्मिन्नूजुस्तवगान् जन-द्रुमान्।
आलोक्यालोक्य सद्वृत्तान् छिनत्ति यमतक्षकः ॥



खण्ड : पाँच

श्रवणबेल्गोल : तीर्थवन्दना

1

स्मारक चतुष्टय

श्रवणबेलगोल के परिवेश में जो महत्त्वपूर्ण स्थान तथा मन्दिर और स्मारक हैं उनका विभाजन और वर्णन इन चार शीर्षकों के अन्तर्गत हो सकता है :

(1) चन्द्रगिरि पहाड़ी
(2) विन्ध्यगिरि पहाड़ी
(3) नगर-स्मारक
(4) आस-पास के ग्राम।

चारों स्थानों में अनेक बसदियाँ (मन्दिर) हैं, स्मारक हैं, शिलालेख हैं, भव्य मूर्तियाँ हैं और वे गुफाएँ—कन्दराएँ हैं जहाँ सहस्रों मुनियों ने तपस्या की, सल्लेखना या समाधिमरण किया और अपने संयम का प्रभाव एवं जन-कल्याण के लिए धर्मोपदेश तथा मोक्ष-साधना का प्रमाण प्रस्तुत किया। श्रवणबेलगोल की ऐतिहासिक महत्ता विशेष रूप से इस तथ्य में भी है, जैसा कि हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं, कि वहाँ के इन स्मारकों और शिलालेखों में गुम्फित हैं उन राजा-रानियों, मन्त्रियों, सेनापतियों, श्रेष्ठियों और भक्त-जनों के नाम, जिनका सम्बन्ध कर्नाटक-इतिहास के गंग, राष्ट्रकूट, चालुक्य और होय्सल आदि राजवंशों से था। संयम, भक्ति और योगसाधना का तथा जैनधर्म के प्रवक्ता और साधक दिगम्बर जैन मुनियों का ऐसा जीवन्त एवं प्रामाणिक इतिहास अन्यत्र दुर्लभ है। यही कारण है कि श्रवणबेल्गोल को पवित्रता और सांस्कृतिक भव्यता के प्रतीक-रूप में 'जैन काशी' या 'जैन बद्री' का नाम दिया गया है।

1. चन्द्रगिरि

चन्द्रगिरि का प्राचीन नाम कटवप्र (संस्कृत) और कल्बप्पु (कन्नड़) है। लोक-भाषा में उसे तीर्थगिरि और ऋषिगिरि भी कहते हैं।

चन्द्रगिरि समुद्र तल से 3053 फुट ऊँची है। नीचे के मैदान से यह मात्र

75 फुट की ऊँचाई पर है। विन्ध्यगिरि की अपेक्षा यह पहाड़ी 274 फुट नीची है।

तीर्थयात्रा के पवित्र संकल्प से जब हम चन्द्रगिरि की प्रदक्षिणा करने के लिए निकलते हैं तो प्रदक्षिणा का अर्थ है उन 12 बसदियों (मन्दिरों) के दर्शन जो दीवार के 500 फुट लम्बाई और 225 फुट चौड़ाई के एक घेरे में प्रतिष्ठित हैं।

पार्श्वनाथ बसदि

सबसे पहले हमें पार्श्वनाथ बसदि (मन्दिर) के दर्शन होते हैं। यह मन्दिर दक्षिण की द्राविडी शैली में निर्मित है।

निर्माण की द्राविडी शैली का अर्थ है, स्थापत्य की एक विशेष शैली जिसमें निर्माण के कुछ अंग स्पष्ट दिखाई देते हैं। जैसे,

गर्भगृह—जिसमें तीर्थंकर की मूर्ति मूलनायक प्रतिमा के रूप में प्रतिष्ठित होती है। गर्भगृह के अतिरिक्त कुछ अन्य पारिभाषिक शब्द जो इन मन्दिरों की बनावट का वर्णन करते हुए प्राय: प्रयोग में आते हैं, ये हैं :

सुखनासि या शुकनासिका—शिखर के सामने वाले भाग से जुड़ा हुआ बाहर निकला भाग जिसमें कभी-कभी मन्दिर के गवाक्ष या झरोखों का भी प्रबन्ध होता है।

मुखमण्डप—सामने का या प्रवेशद्वार का मण्डप।

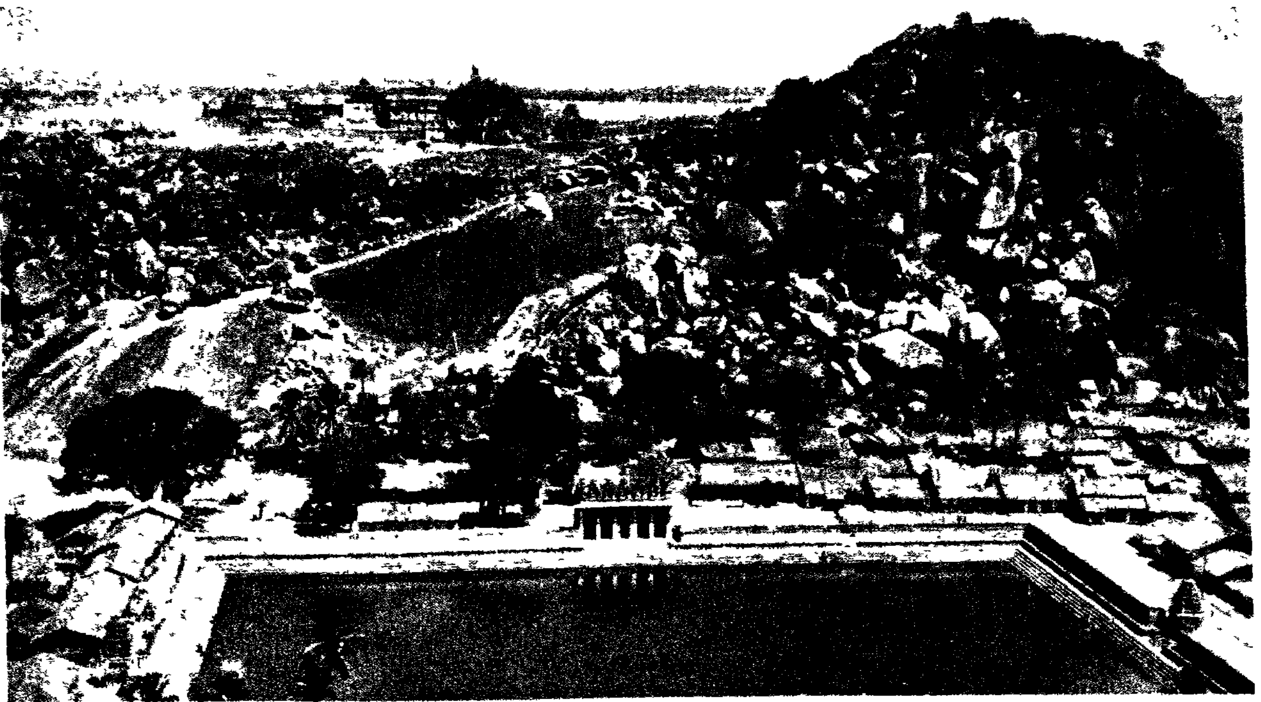
नवरंग—वह महामण्डप जिसमें बीच में चार और बारह स्तम्भों की ऐसी संयोजना होती है कि उससे नौ खाँचे बन जाते है।

रंगमण्डप—खम्भों पर आधारित मण्डप जो चारों ओर से खुला हुआ होता है। इसे सभा-मण्डप भी कहते हैं।

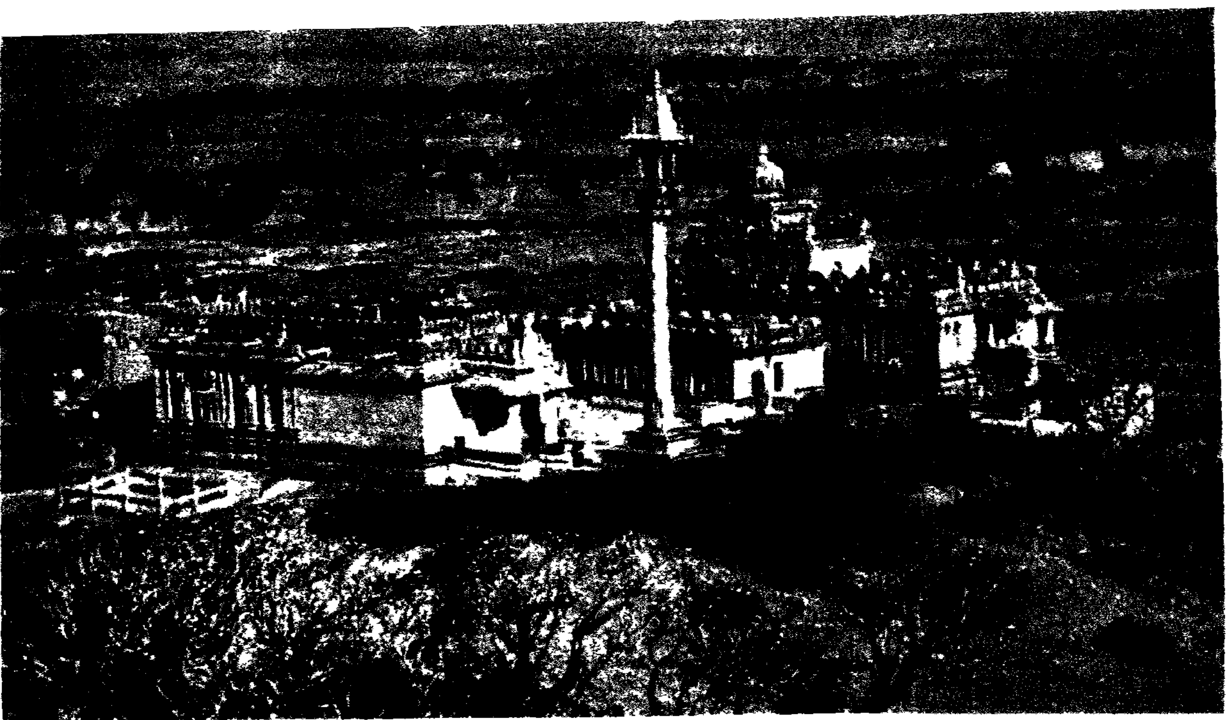
पार्श्वनाथ बसदि की लम्बाई 59 फीट और चौड़ाई 29 फीट है। जैसा कि नाम से स्पष्ट है, मन्दिर की मुख्य मूर्ति तीर्थंकर पार्श्वनाथ की है। यह 15 फुट ऊँची है और इसके मस्तक पर सात फणों वाले नाग की छाया है। मूर्ति अत्यन्त मनोज्ञ है। मन्दिर के सामने बहुत बड़ा मानस्तम्भ है जिसके चारों मुखो पर यक्ष और यक्षियों की मूर्तियाँ खुदी हैं। नवरंग मे जो लेख खुदा हुआ है उससे मालूम होता है कि मानस्तम्भ का निर्माण एक पुट्टय सेठ द्वारा शक संवत् 1672 के आस-पास हुआ होगा। नवरंग में एक विशाल लेख (क्र. 77) खुदा है जो शक संवत् 1050 का है जिसमें मल्लिषेण मलधारि देव के समाधिमरण का संवाद है।

कत्तले बसदि

कन्नड़ में कत्तले का अर्थ है अँधेरा। मन्दिर में पहले प्राय: अँधेरा ही रहता था। मन्दिर विशाल है—लम्बाई-चौड़ाई 124 × 40 फुट। मन्दिर पर शिखर नहीं है किन्तु लगता है कि पहले शिखर था जो मन्दिर के खुदे हुए मानचित्र में दिखाया

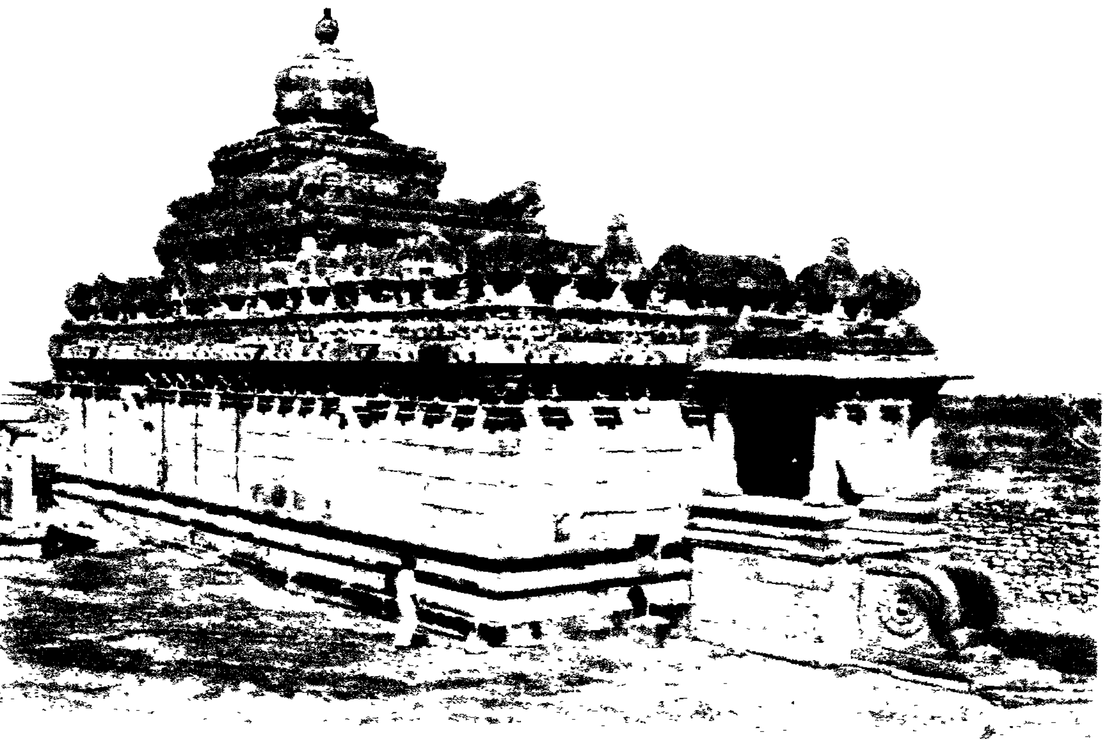


12. चन्द्रगिरि का विहंगम दृश्य
[भा० पु० स०, नई दिल्ली]



13. चन्द्रगिरि पर कतिपय देवालय तथा प्राकृतिक पृष्ठभूमि

[भा० पु० स०, नई दिल्ली]



14. चन्द्रगिरि पर चामुण्डराय बसदि



15 चन्द्रगिरि पर पार्श्वनाथ बसदि श्रौर मानस्तम्भ



16. चन्द्रगिरि पर श्रुतकेवली भद्रबाहु के चरणचिह्न



17. सर्वाह्न यक्ष (चामुण्डराय बसदि)

गया है। इस विशाल भवन में कहीं कोई खिड़की नहीं, कोई दरवाजा नहीं। ऊपर से चारों ओर ऊँची दीवार है जो प्रकाश रोकती है। मन्दिर की मुख्य मूर्ति तीर्थंकर आदिनाथ की है, छह फुट ऊँची पद्मासन, मनमोहक। इसके दोनों ओर चौरीवाहक हैं। केवल यही एक मन्दिर है जिसके गर्भगृह के चारों ओर प्रदक्षिणा-पथ है। 1118 ई० के एक लेख (क्र० 80) से स्पष्ट है कि इस मन्दिर का निर्माण होय्सल नरेश विष्णुवर्धन के सेनापति गंगराज ने अपनी माता पोचब्बे के हेतु कराया था। महिलाओं की भक्ति की गाथा इस मन्दिर के साथ जुड़ी हुई है। एक तो पोचब्बे की भक्ति-भावना मन्दिर के निर्माण का प्रमुख कारण थी; साथ ही, सौ वर्ष बाद अन्य दो महिलाओं—देवी रुक्मिणी और केम्पम्मणि ने इसका जीर्णोद्धार कराया था।

चन्द्रगुप्त बसदि

यह मन्दिर स्वयं सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वारा निर्मित बताया जाता है। यह चन्द्रगिरि का सबसे छोटा जिनालय है। इसके तीन कोठों में तीर्थंकर पार्श्वनाथ, पद्मावती और कूष्माण्डिनी की मूर्तियाँ हैं। बीच के कोठे के सामने सभाभवन है जिसमें क्षेत्रपाल की मूर्ति है। बरामदे के दायें छोर पर धरणेन्द्र यक्ष और बायें छोर पर सर्वाह्ण यक्ष निर्मित है। बरामदे के सामने जो दरवाजा है, उसका कला-कौशल मनोहारी है।

चन्द्रगुप्त बसदि में जो सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात है, वह है मण्डप की दीवार पर उकेरा गया जाली का काम, जिसमें 90 फलक या चित्रखण्ड हैं। इन फलकों में श्रुतकेवली भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त के जीवन के दृश्य अंकित हैं। यह फलक-समूह अपूर्व कौशल का नमूना है। फलकों का वर्णन पहले आ ही चुका है। इस जाली पर कलाकार का नाम 'दासोजः' लिखा है। मन्दिर के दोनों बाजुओं पर छोटे खुदावदार शिखर भी हैं।

शान्तिनाथ बसदि

इसकी लम्बाई-चौड़ाई 24 × 16 फुट है। इसमें तीर्थंकर शान्तिनाथ की 11 फुट ऊँची मनोज्ञ खड्गासन प्रतिमा है। किंवदन्ती है कि श्री रामचन्द्रजी अपने दल-बल के साथ जिन दिनों यहाँ विश्राम कर रहे थे उस समय मन्दोदरी ने इस मूर्ति की प्रतिष्ठा करायी थी।

सुपार्श्वनाथ बसदि

इसका आकार 25 × 14 फुट है। इसमें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ की तीन फुट ऊँची पद्मासन प्रतिमा है जो सप्तनागफणी की छाया में विराजमान है।

चन्द्रप्रभ बसदि

इस बसदि में चन्द्रप्रभ तीर्थंकर की तीन फुट ऊँची मूल प्रतिमा प्रतिष्ठित है। सुखनासि मे तीर्थंकर के यक्ष-यक्षी श्याम और ज्वालामालिनी प्रतिष्ठित हैं। मन्दिर के सामने की शिला पर लेख क्रमांक 140 मे 'सिवमारन बसदि' अंकित है। इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि इस मन्दिर का निर्माण गंग-नरेश शिवमार द्वितीय (लगभग 800 ई०) ने कराया।

चामुण्डराय बसदि

विशाल भवन। आकार 69 × 36 फुट। बनावट और सजावट में चन्द्रगिरि पर सबसे सुन्दर। शिल्पकला का एक अनूठा नमूना। इसके ऊपर दूसरा खण्ड और एक गुम्मद भी है।

मन्दिर में तीर्थंकर नेमिनाथ की 5 फुट ऊँची, मनोज्ञ मूर्ति विराजमान है। गर्भगृह के दरवाजे पर बाजुओं में यक्ष सर्वाह्ण और यक्षिणी कूष्माण्डिनी उत्कीर्ण हैं। इसकी बाहरी दीवारो, स्तम्भों, आलों मे भी उकेरी हुई मूर्तियाँ है। बाहरी दरवाजे के दोनो बाजुओं पर नीचे की ओर लेख (क्र० 151) है—'**श्री चामुन्डरायं माडिसिदं**।' तदनुसार इसे स्वयं चामुण्डराय ने 982 ई० के आसपास बनवाया।

मन्दिर के ऊपर के खण्ड में पार्श्वनाथ की तीन प्रतिमाएँ है। सिंहासन पर लेख (क्र० 150) है कि चामुण्डराय के पुत्र जिनदेव ने बेल्गोल मे जिनमन्दिर का निर्माण कराया। अर्थात् यह खण्ड पीछे बना।

विशालता और कलात्मकता के साथ-साथ इस मन्दिर का अपना एक अन्य गौरव भी है। कहा जाता है कि आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने इसी मन्दिर में बैठकर जैन सिद्धान्त के महान् ग्रन्थ 'गोम्मटसार' की रचना की थी।

शासन बसदि

इसका आकार 55 × 26 फुट है। शासन मन्दिर के दरवाजे पर एक लेख (क्र० 82) है। लेख को ही 'शासन' कहते हैं। इसी से इसका नाम शासन बसदि पड़ा। इसके गर्भगृह में आदिनाथ की 5 फुट ऊँची मूर्ति है। उसके दोनों ओर चौरीवाहक हैं। शुकनासिका में गोमुख यक्ष और चक्रेश्वरी यक्षी हैं। बाहरी दीवारों में स्तम्भों और आलों की सजावट है। उनके बीच-बीच में प्रतिमाएँ उत्कीर्ण हैं। तीर्थंकर आदिनाथ के सिंहासन पर लेख (क्र० 84) है जिसका अभिप्राय है कि गंगराज सेनापति ने 'इन्दिरा कुलगृह' नाम से इसे बनवाया था।

मज्जिगण बसदि

इस मन्दिर का आकार 32 × 19 फुट है। सम्भवत: किसी मज्जिगण नामक व्यक्ति ने इसका निर्माण कराया था। इसमें तीर्थंकर अनन्तनाथ की साढ़े तीन फुट ऊँची मूर्ति है।

एरडुकट्टे बसदि

इसका अर्थ है—उभयवेदिका मन्दिर। सीढ़ियों के दोनों ओर दो चबूतरे हैं। इसी कारण इस बसदि का यह नाम पड़ गया। इसका आकार 55 × 26 फुट है। इसमें तीर्थंकर आदिनाथ की प्रभावलि से अलंकृत 5 फुट ऊँची मूर्ति है। यहाँ पर उत्कीर्ण लेख (क्र० 160) के अनुसार, गंगराज सेनापति की भार्या लक्ष्मी ने इस बसदि का निर्माण कराया।

सवतिगन्धवारण बसदि

सवतिगन्धवारण बसदि का अर्थ है—सौतों (सवति) के लिए मत्त हाथी। होयसल नरेश विष्णुवर्धन की रानी शान्तलदेवी का यह उपनाम है। मन्दिर विशाल है। आकार 69 × 35 फुट है। इसमें तीर्थंकर शान्तिनाथ की 5 फुट ऊँची मूर्ति है जिसके दोनों ओर चौरीवाहक हैं। शुकनासिका में यक्ष किम्पुरुष और यक्षिणी महामानसी चित्रित हैं। सिंहासन पर लेख (क्र० 161) शक संवत् 1144 का है। शान्तलदेवी के संबंध मे पहले लिखा जा चुका है।

तेरिन बसदि

सामने तेरु (रथ) के आकार का भवन है। आकार 70 × 26 फुट है। इसमे बाहुबली स्वामी की 5 फुट ऊँची मूर्ति है। सामने के नन्दीश्वर मन्दिर पर चारों ओर 52 जिनमूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। इसके शक संवत् 1038 के लेख (क्र० 170) से ज्ञात होता है कि पोयसल सेठ की माता माचिकब्बे और नेमि सेठ की माता शान्तिकब्बे ने इसे बनवाया था।

शान्तीश्वर बसदि

इसका आकार 56 × 30 फुट का है। इसमें तीर्थंकर शान्तिनाथ की मूर्ति है। यक्ष-यक्षी हैं। गुम्मट पर कारीगरी है। मन्दिर कुछ ऊँची सतह पर बना है।

कूगे ब्रह्मदेव स्तम्भ

चन्द्रगिरि पर्वत के घेरे के दक्षिणी दरवाजे पर प्रतिष्ठित यह एक विशाल

स्तम्भ है। इसके शिखर पर पूर्वमुखी ब्रह्मदेव की छोटी-सी पद्मासन मूर्ति है। स्तम्भ की पीठिका आठ दिशाओं में आठ हाथियों पर आधारित थी। अब थोड़े से हाथी रह गये हैं। इसके चारों ओर लेख (क्र० 64) है, जो गंगनरेश मारसिंह द्वितीय की मृत्यु (974 ई०) का स्मारक है। इससे ज्ञात होता है कि यह स्तम्भ इससे भी पहले बना होगा।

महानवमी मण्डप

चार स्तम्भों वाले दो मण्डप हैं। दोनों मण्डपों के मध्य में स्थित एक स्तम्भ के लेख (क्रमांक 73) में अंकित है कि यहाँ नयकीर्ति आचार्य का समाधिमरण हुआ और उनके श्रावक शिष्य नागदेव मन्त्री ने मण्डप का निर्माण करवाया।

ऐसे ही और भी अनेक मण्डप इस पर्वत पर विद्यमान हैं और उनमें लेखयुक्त स्तम्भ प्रतिष्ठित हैं।

भरतेश्वर

महानवमी मण्डप के पश्चिम की ओर एक भवन है। इसके समीप 9 फुट ऊँची मूर्ति है जो बाहुबली के भाई भरतेश्वर की बताई जाती है। एक भारी चट्टान में यह मूर्ति घुटनों तक बनाई जाकर अपूर्ण छोड़ दी गई है। वर्तमान अवस्था में यह समभंग मुद्रा में अवस्थित है। संभवत: इसे चन्द्रगिरि पहाड़ी के पश्चिमी परिसर में पड़े हुए विशाल शिलाखण्ड को काटकर बनाया गया है। सम्बन्धित शिलालेख का कुछ भाग पढा गया, जिससे अनुमान होता है कि इसे गुरु अरिष्टनेमि ने बनवाया था।

इरुवे ब्रह्मदेव मन्दिर

सारी पहाड़ी पर घेरे से बाहर केवल यही एक मन्दिर है। इसमें ब्रह्मदेव की मूर्ति है। इस मन्दिर के सामने एक बृहत् चट्टान है जिस पर जिन-प्रतिमाएँ, हाथी, स्तम्भ खुदे हुए हैं। खोदने वालों के नाम भी अंकित हैं। मन्दिर के दरवाजे पर लेख (क्र० 186) है जिसके अनुसार इस मन्दिर का निर्माण दसवीं शताब्दी में हुआ था।

एक विशेष अतिशय इस मन्दिर का यह प्रचलित है कि लोग यहाँ आकर दही द्वारा अभिषेक की मनौती पूरी करते हैं तो उनके घर से चींटियाँ चली जाती हैं।

कञ्चिन दोणे

'कञ्चिन' का अर्थ है 'कांसा', जिस धातु से घण्टा आदि बनाये जाते हैं और 'दोण' का अर्थ है—कुण्ड। किन्तु इसका आशय पूरी तरह स्पष्ट नहीं होता है। यहाँ

चौकोर घेरे के भीतर चट्टान में एक कुण्ड है। कुण्ड के भीतर स्तम्भ है जिस पर लेख (क्र० 211) में लिखा है—"**मानभ आनन्द-संवच्छरदल्लि कट्टिसिद दोणेपु**" अर्थात् मानव ने आनन्द संवत्सर (शक संवत् 1116) में इसे बनवाया।

लक्कि दोणे

इसका अर्थ है लक्कि नामक महिला द्वारा निर्मित कुण्ड। कुण्ड से पश्चिम की ओर एक चट्टान है जिस पर 31 छोटे-छोटे लेख (क्रमांक 219 से 249) हैं जिनमें यात्रियों, आचार्यों, कवियों तथा राजपुरुषों के नाम अंकित हैं।

भद्रबाहु गुफा

अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु ने यहाँ शरीर त्याग किया था। यहाँ पर उनके चरण अंकित हैं। एक लेख (क्र० 251) यहाँ पाया गया था, किन्तु अब वह यहाँ नहीं है। कहा जाता है कि सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य अपनी मुनि-अवस्था में यहीं पर तपश्चरण करते हुए आचार्य भद्रबाहु की उनके अन्तिम समय तक सेवा-सुश्रुषा करते रहे। यह भी मान्यता है कि लगातार 48 दिनों तक इन चरणों की पूजा करने से भक्त की मनोकामना पूरी हो जाती है।

चामुण्डराय की शिला

चन्द्रगिरि के नीचे एक चट्टान इस नाम से प्रसिद्ध है। कहा जाता है, चामुण्डराय ने इसी शिला पर खड़े होकर विन्ध्यगिरि पर सोने का बाण छोड़ा था, जिसके फलस्वरूप विश्ववन्द्य गोम्मटेश्वर मूर्ति का ऊपरी भाग प्रकट हुआ था। शिला पर कई जैन गुरुओं के आकार और उनके नाम भी उत्कीर्ण हैं।

2. विन्ध्यगिरि

विन्ध्यगिरि को 'दोड्ड बेट्ट' (बड़ी पहाड़ी) या 'इन्द्रगिरि' भी कहते हैं। यह समुद्रतल से 3347 फुट और नीचे मैदान से 470 फुट ऊँची है। शिखर पर पहुँचने के लिए 650 सीढ़ियाँ पत्थरों को काटकर बनाई गई हैं। ऊपर समतल चौक एक घेरे से घिरा है। घेरे में बीच-बीच में तलघर हैं जिनमें जिन-प्रतिमाएँ विराजमान हैं। घेरे के चारों ओर कुछ दूरी पर भारी दीवार है जो कहीं-कहीं प्राकृतिक शिलाओं से बनी है। चौक के ठीक बीचों-बीच गोम्मटेश्वर की विशाल खड्गासन मूर्ति है जो अपनी दिव्यता से उस सारे भूभाग को अलंकृत कर रही है। गोम्मटेश्वर की इस विश्ववन्द्य प्रतिमा का वर्णन हम कर चुके हैं।

मूर्ति-विवरण एक लेख (क्र० 336) में दिया है। यह लेख एक छोटा-सा कन्नड़ काव्य है। यह 1180 ई० के लगभग बोप्पण कवि द्वारा रचा गया है।

गोम्मटेश्वर मूर्ति के दोनों बाजुओं पर यक्ष-यक्षिणी की मूर्तियाँ हैं जिनके एक हाथ में चौरी और दूसरे में कोई फल है। गोम्मटेश्वर मूर्ति की बायीं ओर गोल पाषाण का पात्र है जिसमें मूर्ति के अभिषेक का जल एकत्र होता है। इस पर 'ललित सरोवर' नाम खुदा है। पाषाण-पात्र भर जाने पर अभिषेक का जल एक नाली द्वारा मूर्ति के सम्मुख कुएँ में पहुँचता है, वहाँ से मन्दिर की सरहद के बाहर 'गुल्लकायजिज बागिलु' नाम कन्दरा में पहुँचा दिया जाता है। मूर्ति के सम्मुख का मण्डप सुन्दर खचित नव छत्रों से सजा हुआ है। आठ छत्रों पर अष्ट दिक्पाल की मूर्तियाँ हैं। बीच की नौवीं छत पर गोम्मटेश्वर के अभिषेक के लिए हाथ में कलश लिये इन्द्र की मूर्ति है। इसकी छत में उत्कीर्ण शिलालेख क्र० 322 से अनुमान होता है कि बलदेव मन्त्री ने 12वीं शताब्दी के प्रारम्भ में यह मण्डप, और लेख क्र० 373 के अनुसार सेनापति भरतमय्य ने इस मण्डप का कठघरा (हप्पलिगे) निर्माण कराया था।

और भी अनेक लेख हैं जिनसे पता चलता है कि कठघरे की दीवार और चौबीस तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ नयकीर्ति सिद्धान्तचक्रवर्ती के शिष्य बसविसेट्टि ने निर्माण करायीं तथा उनके पुत्रों ने प्रतिमाओं के सम्मुख जालीदार खिड़कियाँ बनवायीं। इसी प्रकार चंगाल्वनरेश महादेव के प्रधान सचिव केशवनाथ के पुत्र चन्न बोम्मरस और नजरायपट्टन के श्रावकों ने गोम्मटेश्वर-मण्डप के ऊपर के खण्ड का जीर्णोद्धार कराया।

परकोटा

इसका निर्माण होयसल नरेश विष्णुवर्धन के सेनापति गंगराज ने शक सं० 1039 के आसपास कराया। यह विवरण लेख क्र० 276, 272-74, 154, 158, 342, 547 में मिलता है। परकोटे के भीतर मण्डपों में अगल-बगल 43 जिनमूर्तियाँ प्रतिष्ठित हैं। अधिकांश मूर्तियाँ चार फुट ऊँची हैं। इनमें पद्मप्रभु तीर्थंकर की मूर्ति नहीं है। एक अज्ञात मूर्ति डेढ़ फुट ऊँची है। परकोटे के द्वार के दोनों बाजुओं पर छह-छह फुट ऊँचे द्वारपाल हैं। परकोटे की दीवार पर तीन ओर देवी-देवताओं और पशु-पक्षियों के विविध मुद्राओं में ऐसे अद्भुत और मनोवैज्ञानिक चित्र उकेरे गये हैं कि सारी प्रकृति मानव की सहचरी हो गई है।

गोम्मटेश्वर देव के ठीक सामने छह फुट ऊँचाई पर ब्रह्मदेव स्तम्भ है। यहाँ ब्रह्मदेव की पद्मासन मूर्ति है। स्तम्भ के नीचे पाँच फुट ऊँची गुल्लकायज्जी की मूर्ति है जिसके हाथ में गुल्लकायि (फल) है। यह स्तम्भ और मूर्ति स्वयं चामुण्डराय द्वारा निर्मित बताई जाती है।

सिद्धर बसदि

यह छोटा-सा मन्दिर है। इसमें सिद्ध भगवान की 3 फुट ऊँची मूर्ति विराजमान है। मूर्ति के दोनों ओर 6-6 खचित कलात्मक स्तम्भ हैं। दायीं ओर के स्तम्भ पर अर्हद्दास कवि का पण्डितार्य की प्रशस्ति वाला लेख (क्र० 360) है। इस स्तम्भ में पीठिका पर विराजमान एक आचार्य अपने शिष्य को उपदेश देते दिखाए गए हैं। दूसरे चित्र में जिनमूर्ति उत्कीर्ण है।

अखण्ड बागिलु

यह द्वार का नाम है। पूरा दरवाजा अखण्ड शिला को काटकर बनाया गया है। द्वार के ऊपरी भाग में लक्ष्मी की पद्मासन मूर्ति का दोनों ओर से हाथी अभिषेक कर रहे हैं। दरवाजे की दायीं ओर बाहुबली और बायीं ओर भरत की मूर्तियाँ हैं जो दण्डनायक भरतेश्वर द्वारा शक संवत् 1052 के आसपास प्रतिष्ठित की गई थीं।

सिद्धरगुण्डु

यह एक शिला है जिस पर अनेक लेख हैं। ऊपरी भाग की कई पंक्तियों में जैनाचार्यों के चित्र हैं, उनके नाम भी हैं। भरत-बाहुबली, उनके निन्यानवे भाई तथा ब्राह्मी और सुन्दरी की मूर्तियाँ भी यहाँ दर्शायी गई हैं।

गुल्लिकायज्जि बागिलु

यह दूसरे द्वार का नाम है। द्वार के दाहिनी ओर एक शिला पर एक स्त्री बैठी है जिसका चित्र भी खुदा है। सम्भवतया इसे गलत नाम दे दिया गया है। लेख (क्र० 358) के अनुसार यह मल्लिसेट्टि की पुत्री का चित्र होना चाहिये।

त्यागद ब्रह्मदेव स्तम्भ

यह 'चागद कम्ब' भी कहलाता है। यहाँ दान दिया जाता था अतः त्यागद नाम पड़ा। अद्भुत शिल्प है इस स्तम्भ का। यह मानो अधर में स्थित है और इसके नीचे से रूमाल निकाला जा सकता है। स्तम्भ के एक कोने का अंश मात्र पीठिका का स्पर्श करता है। लेख क्र० 388 के अनुसार यह चामुण्डराय द्वारा स्थापित है। लेख में उनके प्रताप का वर्णन है। यह लेख पूरा नहीं मिलता। पूरा होता तो बहुत से तथ्य प्रमाणित रूप से विदित हो जाते। शायद हेग्गडे कण्न ने अपना छोटा-सा लेख (क्र० 389) लिखाने के लिए चामुण्डराय का लेख घिसवा डाला। यह तथ्य बड़ा दारुण है।

स्तम्भ की पीठिका के दक्षिण बाजू पर दो मूर्तियाँ खुदी हैं। एक मूर्ति, जिसके दोनों ओर चंवरवाही खड़े हुए हैं, चामुण्डराय की है और सामने वाली मूर्ति उनके गुरु नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती की कही जाती है।

चेन्नण्ण बसदि

इसमें चन्द्रप्रभु की ढाई फुट ऊँची मूर्ति है। बसदि के सामने मानस्तम्भ है। लेख क्र० 540 के अनुसार इसे चेन्नण्ण और उसकी धर्मपत्नी ने शक संवत् 1596 में बनवाया था। इस दम्पती की मूर्तियाँ भी उत्कीर्ण हैं। यह बसदि त्यागद स्तम्भ की पश्चिम दिशा में है।

ओदेगल बसदि

इसे त्रिकूट बसदि भी कहते हैं, क्योंकि इसमें तीन गर्भगृह हैं। मन्दिर ऊँची सतह पर है, सीढ़ियों से जाना पड़ता है। ओदेगल से तात्पर्य है कि पाषाणों का आधार देकर इस बसदि की दीवारों को मजबूत किया गया है। तीन गुफाओं में पद्मासन तीन मूर्तियाँ—तीर्थंकर नेमिनाथ, आदिनाथ और शान्तिनाथ की हैं। पश्चिम की ओर चट्टान पर नागरी अक्षरों मे 27 लेख (क्र० 391-417) उत्कीर्ण हैं जिसमे अधिकतर तीर्थयात्रियो के नाम है। बीच में पत्थर का कमल निर्मित है।

चौबीस तीर्थंकर बसदि

यह छोटा-सा देवालय है। यहाँ डेढ़ फुट ऊँचे एक पाषाण पर चौबीस तीर्थंकरों की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। नीचे एक पंक्ति में तीन बड़ी मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। लेख क्र० 422 के अनुसार चौबीसी की स्थापना चारुकीर्ति पण्डित धर्मचन्द्र आदि द्वारा शक संवत् 1570 मे कराई गई थी।

ब्रह्मदेव मन्दिर

विन्ध्यगिरि की नीचे की सीढ़ियों के पास एक छोटा-सा मन्दिर है। इसमें सिन्दूर से रंगा हुआ एक पाषाण है जिसको लोग 'जारुगुप्पे अप्प' या 'ब्रह्म' कहते हैं। लेख क्र० 439 के अनुसार शक संवत् 1600 में इसका निर्माण हिरिसालि निवासी गिरिगौड के छोटे भाई रंगय्य ने कराया था।

3. नगर-स्मारक

भण्डारि बसदि

यह नगर का सबसे बड़ा मन्दिर है। इसका आकार 266×58 फुट है।

होयसल नरेश नरसिंह प्रथम के भण्डारि हुल्ल ने इसका निर्माण कराया था। गर्भ-गृह में सुन्दर चित्रमय वेदी पर चौबीस तीर्थंकरों की तीन-तीन फुट ऊँची मूर्तियाँ हैं। तीन दरवाजों पर जालियाँ बनी हैं। सुखनासि में पद्मावती और ब्रह्म की मूर्तियाँ हैं। नवरंग के चार खम्भों के बीच जमीन पर 10 फुट के चौकोर पत्थर जड़े हैं। आगे के भाग और बरामदे में भी इतने बड़े पत्थर लगे हुए हैं। ये भारी-भारी पत्थर कैसे लाये गये, देखकर आश्चर्य होता है। नवरंग की चित्रकारी में सुन्दर लताएँ, मनुष्य, पशु उत्कीर्ण हैं। बरामदा मुख्य भवन के चारों ओर है। मन्दिर के सामने मानस्तम्भ है। शक संवत् 1081 के लेख (क्र० 476) में मन्दिर के निर्माता हुल्ल और मन्दिर का वर्णन है।

अक्कन बसदि

होयसल नरेश बल्लाल द्वितीय के ब्राह्मण मन्त्री चन्द्रमौलि की जैन धर्मावलम्बिनी भार्या आचियक्क ने शक संवत् 1103 में इस मन्दिर का निर्माण कराया, यह इसके लेख क्र० 444 से ज्ञात होता है। गर्भगृह में फणावलि सहित पार्श्वनाथ की 5 फुट ऊँची भव्य मूर्ति है। सुखनासि मे आमने-सामने पंचफणी धरणेन्द्र तथा पद्मावती की साढ़े तीन फुट ऊँची मूर्तियाँ हैं। द्वार के आस-पास जालियाँ है। नवरंग के काले पाषाण के, आइने के सदृश चमकीले, चार स्तम्भ और कुशल कारीगरी-पूर्ण नवछत्र हैं। गुम्मट मे अनेक जिनमूर्तियाँ चित्रित हैं। शिखर पर सिंह-ललाट है। यह होयसल कला का अनुपम नमूना है।

सिद्धान्त बसदि

कहा जाता है कि जैन वाङ्मय की निधि सिद्धान्त-ग्रन्थ यहाँ एक बन्द कमरे में सुरक्षित रखे जाते थे। यहाँ से ही ये धवल, महाधवल, आदि ग्रन्थ मूडबिद्री गये हैं। मन्दिर के बीच में पार्श्वनाथ-मूर्ति है। उसके आस-पास शेष 23 तीर्थंकरों की मूर्तियाँ हैं। लेख क्र० 454 से ज्ञात होता है कि शक संवत् 1620 में उत्तर भारत के किसी यात्री द्वारा यह चतुर्विंशति तीर्थंकर-मूर्ति प्रतिष्ठित की गई थी।

दानशाले बसदि

यह छोटा-सा देवालय है। इसमें तीन फुट ऊँचे पाषाण पर पंचपरमेष्ठी की प्रतिमाएँ हैं। जैसा कि नाम से ज्ञात होता है पहले यहाँ दान दिया जाता रहा होगा। इस बसदि के लिए मदनेय नामक ग्राम दान में दिये जाने का उल्लेख भी मिलता है।

नगर जिनालय

यह नगर के महाजनों के द्वारा रक्षित था। इसका एक अन्य नाम 'श्री-निलय' भी रहा आया। इसमें आदिनाथ की ढाई फुट ऊँची मूर्ति है। नवरंग के बाईं ओर एक गुफा में ब्रह्मदेव की दो फुट ऊँची मूर्ति है जिसके दायें हाथ में फल और बायें हाथ मे कोड़े जैसी कोई वस्तु है। उसके पैरों मे खड़ाऊँ हैं। पीठिका पर घोड़े का चिह्न है। लेख क्र० 457 के अनुसार इस मन्दिर का निर्माण नागदेव मन्त्री के द्वारा शक संवत् 1118 में हुआ था। इस लेख में गुरु नयकीर्तिदेव की निषद्या तथा 'नृत्यरंग' और 'अश्मकुट्टिम' (पाषाण-भूमि) के निर्माण का उल्लेख भी है।

मंगायि बसदि

त्रिभुवनचूडामणि मंगायि ने इस मन्दिर का निर्माण कराया था। इसमें शान्तिनाथ की साढ़े चार फुट ऊँची मूर्ति है जिसकी प्रतिष्ठा विजयनगर देवराय महाराज की रानी भीमादेवी ने करायी थी। नवरंग में वर्धमान स्वामी की मूर्ति की प्रतिष्ठापना पण्डित देव की शिष्या वसतायि द्वारा हुई थी। मन्दिर के सम्मुख दो सुन्दर हाथी बने हैं।

जैन मठ

यह स्वस्ति श्री भट्टारक स्वामी का निवास-स्थान है। इसमें एक सुन्दर खुला आँगन है। मण्डप-स्तम्भों पर चित्रकारी है। तीन गर्भगृहों में पाषाण और धातु की अनेक प्रतिमाएँ हैं।

कुछ मूर्तियाँ बहुत अर्वाचीन हैं जिन पर संस्कृत व तमिल भाषा के लेख हैं। ये ग्रन्थ-लिपि में लिखे हैं। अधिकांश मूर्तियाँ तमिलनाडु के जैन बन्धुओं द्वारा प्रतिष्ठित है। नवदेवता बिम्ब में पंचपरमेष्ठी, जिनधर्म, जिनागम, चैत्य, चैत्यालय आदि चित्रित हैं। मठ की दीवारों पर तीर्थंकरों और जैन राजाओं के जीवन-चित्र, दशहरा-दरबार का चित्रण, पार्श्वनाथ का समवसरण, भरत और चक्रवर्ती के जीवन-चित्र, नागकुमार के जीवन-वृतान्त और वन-दृश्य में षड्लेश्याओं का चित्रण आकर्षक हैं।

ऊपर की मंजिल में पार्श्वनाथ मूर्ति है। काले पाषाण पर चौबीस तीर्थंकर उत्कीर्ण है। चामुण्डराय ने गोम्मटेश्वर मूर्ति की स्थापना के उपरान्त अपने गुरु नेमिचन्द्र को यहाँ मठाधीश नियुक्त किया था। वैसे यह गुरु-परम्परा और भी पहले से चली आ रही थी। लेख क्र० 360 तथा 364 के अनुसार यहाँ पर आसीन गुरु चारुकीर्ति पण्डित ने होयसल नरेश बल्लाल प्रथम (1100-1106) को व्याधि-मुक्त करके 'बल्लाल-जीवरक्षक' की उपाधि प्राप्त की थी।

कल्याणी सरोवर

यह नगर के बीच में है। इसके चारों ओर सीढ़ियाँ और शिखरबद्ध दीवार है। एक सभा-मण्डप है। उसके एक स्तम्भ पर लेख (क्र० 501) है जिसके अनुसार इस सरोवर को चिक्कदेव राजेन्द्र ने बनवाया था। यह वही सरोवर है जिसके नाम पर बेल्गोल का नामकरण हुआ। एक समय सरोवर के चारों ओर प्राकृतिक सुषमा का विस्तार था। किन्हीं अर्थों में आज भी है। अब नयी निर्माण-पद्धतियों द्वारा इस सरोवर का परिष्कार किया गया है।

जक्कि कट्टे

यह दूसरा सरोवर है। पास की दो चट्टानों पर जैन मूर्तियों के लेख (क्र० 503-504) से ज्ञात होता है कि बोप्पदेव की माता, गंगराज के बड़े भाई की पत्नी, शुभचन्द्र सिद्धान्तदेव की शिष्या जक्किमठ्वे ने इन मूर्तियों और इस सरोवर का निर्माण कराया था।

चेन्नण्ण कुण्ड

चेन्नण्ण कुण्ड के निर्माता वही चेन्नण्ण हैं जिनकी कृतियों का उल्लेख अनेक शिलालेखों में है। लेख क्र० 480 से ज्ञात होता है कि इस कुण्ड का निर्माण शक संवत् 1595 के आस-पास हुआ था।

4. आसपास के ग्राम

जिननाथपुर : शान्तिनाथ बसदि

नगर से उत्तर की ओर यह एक मील दूरी पर है। लेख क्र० 538 के अनुसार होय्सल नरेश विष्णुवर्धन के सेनापति गंगराज ने शक संवत् 1040 के आसपास इसे बसाया था। मैसूर राज्य के समस्त मन्दिरों में सबसे अधिक आभूषित है यह बसदि, और है यह होयसल शिल्पकारी का सबसे सुन्दर नमूना। इसमें शान्तिनाथ भगवान की साढ़े पांच फुट ऊँची भव्य एवं दर्शनीय मूर्ति है। यह प्रभावली से और दोनों ओर चमरवाहियों से सुसज्जित है। नवरंग के चार स्तम्भ मूंगे की कारीगरी के नमूने हैं। सुन्दर नवछत है तथा बाहरी दीवारी पर तीर्थंकर, यक्ष, यक्षी, ब्रह्म, सरस्वती, मन्मथ, मोहिनी, नृत्यकारिणी, गायक, वादित्रवाही आदि के चित्र हैं। इसका लेख (क्र० 526) शक संवत् 1120 (जीर्णोद्धार 1553 में) इस मन्दिर का निर्माण-काल दर्शाता है। तदनुसार इस मन्दिर को 'वसुधैकबान्धव' रेचिमय्य सेनापति ने बनवाकर सागरनन्दि सिद्धान्तदेव के अधिकार में दे दिया था। रेचिमय्य

कलचुरिनरेश के मन्त्री थे। बाद में उन्होंने होयसल नरेश बल्लाल द्वितीय (1173-1220) का आश्रय ले लिया था।

जिननाथपुर : अरेगल्लु बसदि

यह अरेगल्लु (चट्टान) पर स्थित है। शान्तिनाथ मन्दिर से भी यह पुराना है। इसमें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की 5 फुट ऊँची पद्मासन मूर्ति है। सुखनासि में धरणेन्द्र पद्मावती के सुन्दर चित्र हैं। मूर्ति की पीठिका पर के लेख (क्र० 530) से ज्ञात होता है कि शक संवत् 1812 मे इसे बेल्गुल के भुजबलेय्य ने प्रतिष्ठित कराया था। यहाँ की प्राचीन मूर्ति बहुत खण्डित हो गई थी जो आज भी पास के तालाब मे पड़ी है। उसका छत्र मन्दिर के द्वार के पास रखा है। इस मन्दिर की अन्य मूर्तियाँ 24 तीर्थंकर, पंचपरमेष्ठी, नवदेवता, नन्दीश्वर आदि धातु-निर्मित हैं।

समाधि-मण्डप

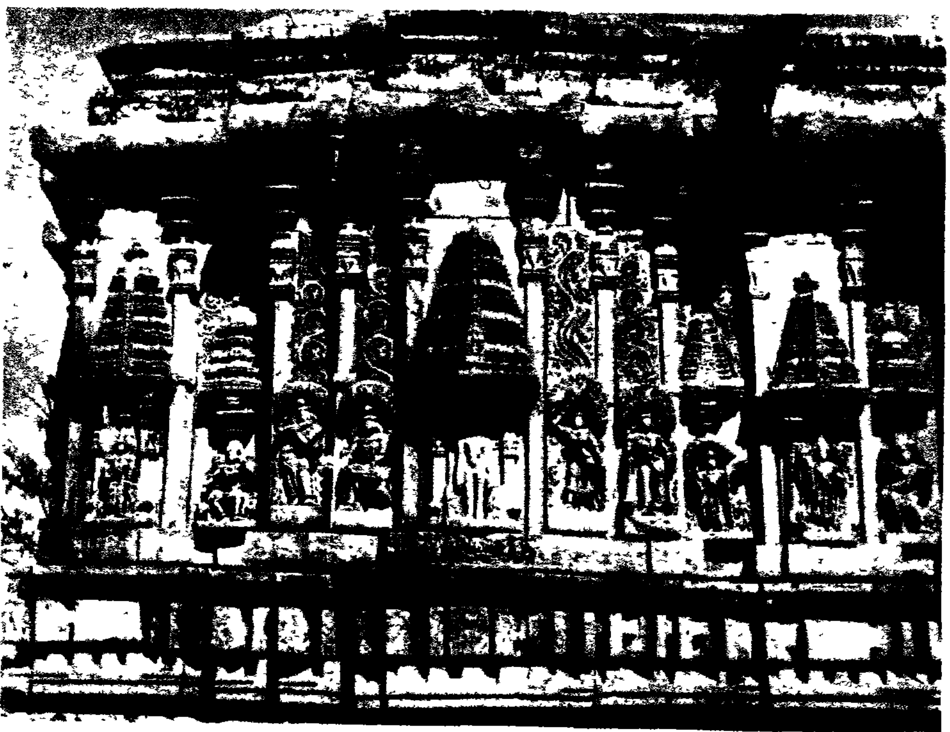
यहाँ गाँव में एक समाधि-मण्डप है जिसे 'शिलाकूट' कहते हैं। यह 4×4 फुट का है। ऊँचाई 5 फुट है। ऊपर शिखर है। चारों ओर द्वारहीन दीवारें हैं। इसके लेख क्र० 539 से ज्ञात होता है कि यह बालचन देव के पुत्र (मृत्यु : शक संवत् 1136) की निषद्या है। कालब्बे नामक एक साध्वी स्त्री द्वारा भी यहाँ सल्लेखना-विधि से शरीर-त्याग किये जाने का उल्लेख है।

ऐसा एक समाधि-मण्डप तावरेकेरे सरोवार के समीप भी है। लेख क्र० 497 के अनुसार यह चारुकीर्ति पण्डित की निषद्या है जिनकी मृत्यु शक संवत् 1565 में हुई।

जिननाथपुर में एक दानशाला भी थी जिसे लेख क्र० 71 के अनुसार देवकीर्ति पण्डित (मृत्यु : शक संवत् 1085) ने इसे बनवाया था।

हलेबेल्गोल

यह श्रवणबेल्गोल से 4 मील उत्तर की ओर है। यहाँ का जैन मन्दिर होयसल शिल्पकारी का नमूना है। यह अब ध्वंस अवस्था में है। गर्भगृह में ढाई फुट ऊँची खड्गासन मूर्ति है। सुखनासि में 5 फुट ऊँची सप्तफणी पार्श्वनाथ की खण्डित मूर्ति है। नवरंग में अच्छी चित्रकारी है। बीच की छत पर देवियों सहित रथारूढ़ अष्ट-दिक्पालों के चित्र अंकित हैं। बीच में धरणेन्द्र का सप्तफणी चित्र है जिसके बायें हाथ में धनुष और दाहिने हाथ में सम्भवतः शंख है। द्वार पर आकर्षक कारीगरी हैं। इसके लेख (क्र० 568) से ज्ञात होता है कि विष्णुवर्धन के पिता होयसल एरेयंग ने गुरु गोपनन्दि को बेल्गोल के मन्दिरों के जीर्णोद्धार के



18. जिननाथपुर में शान्तिनाथ मन्दिर की बाह्य-भित्ति का कलावैभव

के लिए राचनहल्ल ग्राम का दान दिया था। मन्दिर का निर्माण-काल 1016 है। इस ग्राम में एक शैव और एक वैष्णव मन्दिर भी है। यहाँ के तालाब की नहर में टूटे हुए मन्दिरों का मसाला लगाया गया है। यह इस बात का संकेत करता है कि यहाँ और अधिक मन्दिर रहे होंगे।

ग्राम साणेहल्लि

यह श्रवणबेल्गोल से 3 मील दूर है। यहाँ एक ध्वस्त जैन मन्दिर है। लेख क्र० 550 के अनुसार इसे गंगराज की भावज अक्किमब्बे ने बनवाया था। (संदर्भ ऊपर भी आ चुका है।)

कम्बदहल्ली

श्रवणबेल्गोल से यह स्थान 11 मील दूर है। यहाँ एक कलापूर्ण स्तम्भ है जिसके ऊपर ब्रह्मयक्ष की मूर्ति है। इसके समीप ही सात पाषाण-निर्मित जैन मन्दिर हैं। यहाँ के एक शान्तिनाथ मन्दिर में तीर्थंकर शान्तिनाथ की 12 फुट उत्तुंग मनोज्ञ मूर्ति है। सेनापति गंगराज के पुत्र बोप्पण ने इसका निर्माण कराया था। कम्बदहली का शिल्प और कलाकौशल इतना अद्‌भुत है कि जिसे देखकर आज का कलाकार या स्थपति चकित-सा रह जाता है।



बाहुबली-मूर्तियों की परम्परा

वीर-मार्तण्ड चामुण्डराय ने भगवान् बाहुबली की विश्व-वन्द्य मूर्ति की प्रतिष्ठापना करके जिस विशालता, भव्यता और वीतरागता को अलौकिक कला में रूपान्तरित किया, उसने आगे की शताब्दियों के श्रीमन्तों और कलावन्तों को इतना अधिक प्रभावित किया कि बाहुबली की विशाल मूर्ति का नव-निर्माण उनके जीवन की साध बन गयी। बाहुबली यद्यपि तीर्थंकर नहीं थे, किन्तु उपासकों ने उन्हें तीर्थंकर के समकक्ष पद दिया। ऐसा ही अनुपम रहा है उनका कृतित्व जिसे हम पिछले अध्यायों में देख चुके हैं। कर्नाटक में जन-सामान्य के लिए तो वह मात्र देवता हैं—तीर्थंकर, जिन, कामदेव के नामों और उपाधियों से परे।

दक्षिण कर्नाटक में, मूडबिद्रि से उत्तर में 15 कि० मी० की दूरी पर स्थित कारकल में सन् 1432 में लगभग 41-1/2 फुट ऊँची प्रतिमा प्रतिष्ठापित हुई जिसे राजपुरुष वीरपांड्य ने जैनाचार्य ललितकीर्ति की प्रेरणा से निर्मित कराया।

एक मूर्ति मूडबिद्री से लगभग 12 मील दूर वेणूर में चामुण्डवंशीय तिम्मराज ने सन् 1604 में स्थापित की, जिसकी ऊँचाई 35 फुट है। इसके प्रेरणास्रोत भी चारुकीर्ति पण्डित माने जाते हैं।

कुछ वर्ष पहले मैसूर के पास वाले एक घने झाड़ स्थान के ऊँचे टीले का उत्खनन करने पर बाहुबली की 18 फुट ऊँची मूर्ति प्राप्त हुई थी। अब उस स्थान को 'गोम्मटगिरि' कहा जाता है।

कर्नाटक के बीजापुर जिले के बादामि पर्वत-शिखर के उत्तरी ढाल पर जो चार शैलोत्कीर्ण जैन गुहा-मन्दिर हैं उनमें से चौथे गुहा-मन्दिर के मण्डप में कोने के एक देव-प्रकोष्ठ में विभिन्न तीर्थंकर-मूर्तियों के मध्य उत्कीर्ण मूर्ति सर्वप्रभु बाहुबलि की मूर्ति है। इस 7 फुट 6 इंच ऊँची मूर्ति की केश-सज्जा भी दर्शनीय है जिसकी परम्परा दसवी शती में श्रवणबेल्गोल की महामूर्ति में ऊर्णा अर्थात् घुंघराले केशों के रूप में परिणत हुई।

बादामि-बाहुबली की केश-सज्जा की परम्परा आठवीं-नौवीं शती की उस मूर्ति में विद्यमान है जो बाहुबली की प्रथम कांस्य-मूर्ति है। लगभग डेढ़ फुट ऊँचे

आकार की यह मूर्ति मूलतः श्रवणबेल्गोल की है और अब प्रिंस ऑफ वेल्स संग्रहालय, बम्बई में (क्रमांक 105) प्रदर्शित है। इसका वर्तुलाकार पादपीठ अनुपात में इससे कुछ बड़ा है और अब इससे टूट कर अलग हो गया है। स्कन्ध कुछ अधिक चौड़े हैं किन्तु शरीर का शेष भाग उचित अनुपात में है। मुख-मण्डल अण्डाकार है, कपोल पुष्ट हैं और नासिका उन्नत है। ओष्ठ और भौंहें उभरी होने से अधिक आकर्षक बन पड़ी हैं। केश-राशि पीछे की ओर काढ़ी गयी है किन्तु अनेक घुंघराली जटाएँ कन्धों पर लहराती दिखायी गयी हैं। लताएँ उनके पैरों से होकर हाथों तक ही पहुँची हैं। कालक्रम से यह द्वितीय मानी जा सकती है।

कालक्रम से तृतीय बाहुबलि-मूर्ति ऐहोल के इन्द्रसभा नामक बत्तीसवें गुहा-मन्दिर की अर्द्ध-निर्मित वीथि में उत्कीर्ण है। बीजापुर जिले के इस राष्ट्रकूट-कालीन केन्द्र का निर्माण आठवीं-नौवीं शती में हुआ था। इसी गुहा मन्दिर मे नौवीं-दसवीं शती में जो विविध चित्रांकन प्रस्तुत किए गए उनमें से एक बाहुबली का भी है। बाहुबली का इस रूप में यह प्रथम और संभवतः अन्तिम चित्रांकन है।

कर्नाटक मे गोलकुण्डा के खजाना बिल्डिंग संग्राहलय में प्रदर्शित एक बाहुबली मूर्ति काले बेसाल्ट पाषण की है। 1.73 मीटर ऊँची यह मूर्ति कदाचित् दसवीं शती की है।

पत्तनचेरुवु से प्राप्त और राज्य संग्राहलय हैदराबाद में प्रदर्शित एक बाहुबली मूर्ति राष्ट्रकूट कला का अच्छा उदाहरण है। इसमें लताएँ कन्धों से भी ऊपर मस्तक के दोनो ओर पहुँच गयीं हैं। दोनों ओर अंकित एक-एक लघु युवती-आकृति का एक हाथ लता को अलग कर रहा है और दूसरा कटि तक अवलम्बित मुद्रा में है। बारहवीं शती की यह मूर्ति कई दृष्टियों से उल्लेखनीय है। श्रीवत्स लांछन होने से यह उत्तर और दक्षिण की शृंखला जोड़ती है; ऊपर स्वस्तिक और कमलाकृति प्रभामण्डल है जो अन्य बाहुबलि-मूर्तियों में प्राय अप्राप्य है। कटि की त्रिवलि ने समूची मूर्ति के अनुपात को सन्तुलित किया है।

बादामी तालुके में ही एक गाँव है ऐहोल, जिसके पास गुफाएँ हैं। गुफाओं में पूर्व की ओर मेघुटी नामक जैन मन्दिर है। इसके पास की गुफा में बाहुबली की 7 फुट ऊँची मूर्ति उत्कीर्ण है।

दक्षिण में ही दौलताबाद से लगभग 16 मील दूर एलोरा की गुफाएँ हैं। इन में पाँच जैन-गुफाएँ हैं। इनमें एक इन्द्रसभा नामक दोतल्ला सभागृह है। इसकी बाहरी दक्षिणी दीवार पर बाहुबली की एक मूर्ति उत्कीर्ण है।

उत्तर भारत की विशिष्ट बाहुबली मूर्तियाँ

बहुत समय तक कला-विवेचकों में यह धारणा प्रचलित थी कि बाहुबली की मूर्तियाँ दक्षिण भारत में ही प्रचलित हैं। उत्तर भारत में इनके उदाहरण अत्यन्त

विरल हैं। किन्तु शोध-खोज के उपरान्त उत्तर भारत में उल्लेखनीय अनेक बाहुबली-मूर्तियों के अस्तित्व का पता लगा है जिनका विवरण निम्नप्रकार है—

जूनागढ़ संग्रहालय में प्रदर्शित नौवीं शताब्दी की मूर्ति जो प्रभासपाटन से प्राप्त हुई है।

खजुराहो में पार्श्वनाथ मन्दिर की बाहरी दक्षिणी दीवार पर उत्कीर्ण दसवीं शताब्दी की मूर्ति।

लखनऊ संग्रहालय की दसवीं शताब्दी की बाहुबली-मूर्ति जिसका मस्तक और चरण खंडित हैं।

देवगढ में प्राप्त मूर्ति, दसवी शताब्दी की, जो अभी वहीं के 'साहू जैन संग्रहालय' मे प्रदर्शित है। इस मूर्ति का चित्र जर्मन पुरातत्त्व-वेत्ता क्लौस ब्रून ने अपनी पुस्तक में दिया है। देवगढ़ में बाहुबली की 6 मूर्तियाँ प्राप्त हैं।

बिलहरी, जिला जबलपुर, मध्यप्रदेश से एक शिलापट प्राप्त हुआ है जिस पर बाहुबली की प्रतिमा उत्कीर्ण है।

बीसवी शताब्दी की नयी मूर्तियों में, जिन्हें ऊँचे माप पर बनाया गया है, आरा (बिहार) के जैन बालाश्रम में स्थापित मूर्ति, उत्तरप्रदेश के फिरोजाबाद नगर में कुछ वर्ष पूर्व स्थापित विशाल बाहुबली-मूर्ति और सागर, म० प्र० के वर्णी भवन में स्थापित मूर्ति उल्लेखनीय हैं।

उत्तर भारत के अन्य मन्दिरों में भी ब्रोन्ज और पीतल की अनेक बाहुबली मूर्तियाँ विराजमान है।

कतिपय त्रिमूर्तियाँ

बाहुबली को भरत चक्रवर्ती के साथ ऋषभनाथ की परिकर-मूर्तियों के रूप में भी प्रस्तुत किया गया है। बाएँ लता-वेष्टित बाहुबली की और दाएँ नव-निधि से अभिज्ञात भरत की मूर्ति से समन्वित ऋषभनाथ की जटा-मण्डित मूर्तियाँ भव्य बन पड़ी हैं। ऐसे अनेक मूर्त्यंकन देखे गये हैं—

जबलपुर जिले मे बिलहरी ग्राम के बाहर स्थित कलचुरिकालीन, लगभग नौवीं शती, जैन मन्दिर के प्रवेश द्वार के सिरदल पर इस प्रकार का सम्भवतः प्रचीनतम मूर्त्यंकन है।

उत्तर प्रदेश के ललितपुर जिले में स्थित देवगढ़ के पर्वत पर एक मन्दिर में जो ऐसा मूर्त्यंकन है वह कला की दृष्टि से सुन्दरतम है और उसका निर्माण देवगढ़ की अधिकांश कलाकृतियों के साथ लगभग दसवीं शती में हुआ होगा।

खजुराहो के केन्द्रीय संग्रहालय में एक सिरदल (क्रमांक 1724) है। उस पर विभिन्न तीर्थंकरों के साथ भरत और बाहुबली के मूर्त्यंकन भी हैं। यह दसवीं शती की चन्देल कृति है।

भरत और बाहुबली के साथ ऋषभनाथ की विशालतम मूर्ति तोमरकाल, पन्द्रहवीं शती, में ग्वालियर की गुफाओं में उत्कीर्ण की गयी।

इस प्रकार की एक पीतल की मूर्ति नई दिल्ली के राष्ट्रीय संग्रहालय में है। इसमें ऋषभनाथ सिंहासन पर आसीन हैं और उनकी एक ओर भरत तथा दूसरी ओर बाहुबली कायोत्सर्गस्थ हैं। यह संभवतः चौदहवीं शती की पश्चिम भारतीय कृति है।

इन पाँचों के अतिरिक्त और भी कई मूर्तियों पर ऋषभनाथ के साथ भरत और बाहुबली की प्रस्तुति होने का संकेत मिलता है। उड़ीसा के बालासोर जिले में भद्रक रेलवे स्टेशन के समीप चरम्पा नामक ग्राम से प्राप्त और अब राज्य संग्रहालय, भुवनेश्वर में प्रदर्शित अनेक जैन मूर्तियों में से कुछेक में इस प्रकार के मूर्त्यंकन हैं।

इनके अतिरिक्त एक ऐसा मूर्त्यंकन भी प्राप्त हुआ है जो इन सभी से प्राचीन कहा जा सकता है। उड़ीसा के क्योंझर जिले में अनन्तपुर तालुका में बौला पहाड़ियों के मध्य स्थित पोदसिंगिदि नामक ऐतिहासिक स्थान है। यहाँ ऋषभनाथ की एक मूर्ति प्राप्त हुई है। उड़ीसा में प्राप्त यह प्रथम जैनमूर्ति है जिस पर लेख उत्कीर्ण है। इसमे आसन पर वृषभ लांछन के सामने दो बद्धांजलि भक्त अंकित हैं जो भरत और बाहुबली माने जा सकते हैं, और तब यह इस प्रकार की मूर्तियों में सर्वाधिक प्राचीन होगी।

एक पटली-चित्रांकन

बाहुबली की गृहस्थ अवस्था का, भरत से युद्ध करते समय का, मूर्त्यंकन तो नहीं किन्तु चित्रांकन अवश्य प्राप्त हुआ है। प्राचीन हस्तलिखित शास्त्रों के ऊपर-नीचे जो काष्ठ-निर्मित पटलियाँ बाँधी जाती थीं उनमें से एक पर यह चित्रांकन है। मूलतः जैसलमेर भण्डार की यह पटली पहले साराभाई नवाब के पास थी और अब बम्बई के कुसुम और राजेय स्वाली के निजी संग्राहलय में है। बारहवीं शती की इस पटली की रचना सिद्धराज जयसिंह चालुक्य, 1094-1144 ई०, के शासनकाल में विजयसिंहाचार्य के लिए हुई थी। इसका रचनास्थल राजस्थान होना चाहिए। भरत-बाहुबली-युद्ध इस पटली के पृष्ठभाग पर प्रस्तुत है जिस पर घुमावदार लता-वल्लरियों के वृत्ताकारों में हाथी, पक्षी और पौराणिक शेरों के आलंकारिक अभि-प्राय अंकित हैं।

उत्तर और दक्षिण की बाहुबली-मूर्तियों में रचना-भेद

बाहुबली की मूर्तियों की सामान्य विशेषता यह है कि उनकी जंघाओं, भुजाओं और वक्षस्थल पर लताएँ उत्कीर्ण रहती हैं जो इस बात की परिचायक हैं कि

बाहुबली ने एक स्थान पर खड़े होकर इतने दीर्घ समय तक कायोत्सर्ग ध्यान किया कि उनके शरीर पर बेलें चढ़ गयी।

दक्षिण की मूर्तियों मे चरणों के पास सांप की बाँबियां (बमीठे) हैं जिनमें से सांप निकलते हुए दिखाए गए है। किन्तु उत्तर की मूर्तियों में, प्रभासपाटन की मूर्ति को छोडकर संभवतः और किसी में सांप की बाँबियाँ नही दिखायी गयी हैं।

उत्तर भारत की मूर्तियो मे बाहुबली की बहिनों—ब्राह्मी और सुन्दरी का अंकन नही है। जहाँ भी दो स्त्रियाँ दिखाई गयी हैं वे या तो सेविकाएँ हैं, या फिर विद्याधरियाँ जो लता-गुच्छों का अन्तिम भाग हाथ में थामे हैं, मानो शरीर पर से लताएँ हटा रही हैं। एलोरा की गुफा की बाहुबली मूर्ति में जो दो महिलाएँ अंकित है, वे मुकुट और आभूषण पहने है। वे ब्राह्मी और सुन्दरी हो सकती हैं।

बिल्हरी की दो मूर्तियों में से एक में दो सेविकाएँ, जो विद्याधरी भी हो सकती हैं, लतावृन्त थामे हुए हैं। ये त्रिभंग-मुद्रा मे हैं। मूर्ति के दोनों ओर और कन्धो के ऊपर जिन-प्रतिमाएँ हैं। दूसरी मूर्ति में भक्त-सेविकाएँ प्रणाम की मुद्रा मे लता-गुच्छ थामे दिखायी गयी हैं।

ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, उत्तर भारत की कायोत्सर्ग प्रतिमाओं मे बाहुबली को साक्षात् तीर्थंकर की प्रतिष्ठा दर्शाने के लिए सिंहासन, धर्मचक्र, एक-दो या तीन छत्र, भामण्डल, मालाधारी, दुन्दुभिवादक और यहाँ तक कि यक्ष-यक्षियों का भी समावेश कर लिया गया। श्रीवत्स चिह्न तो अंकित हैं ही।

इसीलिए प्रथम कामदेव बाहुबली को अब सम्पूर्ण श्रद्धाभाव से भगवान बाहुबली कहा जाता है, और उनकी मूर्ति को तीर्थंकर-मूर्ति के समान पूजा जाता है।

धोती-पहने बाहुबली की मूर्तियाँ भी कतिपय श्वेताम्बर मन्दिरों में प्राप्त हैं। दिलवाड़ा (राजस्थान) मन्दिर की विमलवसहि, शत्रुंजय (गुजरात) के आदिनाथ मन्दिर और कुम्भारिया (उत्तर गुजरात) के शान्तिनाथ मन्दिर में लगभग 11-12वीं शताब्दी की इस प्रकार की मूर्तियाँ प्राप्त हैं। इन मूर्तियों का यद्यपि अपना एक विशेष सौंदर्य है तथापि यह कहना अनुचित न होगा कि बाहुबली की तपस्या और उनकी कायोत्सर्ग मुद्रा का समस्त सहज प्रभाव दिगम्बरत्व में ही है।



महामस्तकाभिषेक

वीरश्रेष्ठ चामुण्डराय ने जब दसवीं शताब्दी मे गोम्मटेश्वर की मूर्ति की प्रतिष्ठापना सिद्धान्तचक्रवर्ती नेमिचन्द्र आचार्य के अनुष्ठान-संचालन में की तो उस भव्य दृश्य को जनता ने सदा के लिए हृदय में अंकित कर लिया। अवश्य ही, महामस्तकाभिषेक की परम्परा, बाद में, निश्चित विधि-विधान और मुहूर्त-शोधन द्वारा इंगित काल-अवधि के अन्तर्गत सम्पन्न होनी प्रारम्भ हुई होगी। तदुपरान्त प्रत्येक बारहवें वर्ष महामस्तकाभिषेक का अनुष्ठान, क्षेत्र के प्रथम धर्माचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती के शिष्य-प्रशिष्य नियोजित करवाते रहे, यह स्पष्ट प्रतीत होता है। मैसूर राज्य के नरेशों ने जनता के इस धार्मिक उल्लास में सम्मिलित होकर अपने को कृतार्थ अनुभव किया। क्षेत्र के धर्माचार्य, राज्य के नरेश और जनता के सामूहिक धार्मिक उल्लास ने, जिनकी प्रतिनिधि महिमामयी गुल्लिका-अज्जी रही आयी, देश के इस अद्भुत सांस्कृतिक तीर्थ को नये आयाम दिये।

शिलालेख क्रमांक 360 के अनुसार सन् 1398 में पण्डिताचार्य के निर्देशन में जो महामस्तकाभिषेक हुआ, उसमें उल्लेख है कि उससे पहले सात महामस्तकाभिषेक हो चुके थे।

यदि महामस्तकाभिषेक बारह वर्ष के अन्तराल से होने की परिपाटी बन गई थी, तो मानना चाहिये कि सन् 1314 में एक महामस्तकाभिषेक हुआ होगा।

सन 1612 के अभिषेक का उल्लेख कवि पंचबाण ने किया है। यह अभिषेक धर्माध्यक्ष श्री शान्तिवर्णी द्वारा निष्पन्न हुआ था।

इसके बाद के महामस्तकाभिषेकों की सम्पन्नता जिन मैसूर-नरेशों के द्वारा सन् 1605, 1659, 1677, 1800, 1825 में हुई, उनका उल्लेख क्रमशः इस प्रकार मिलता है—चिक्क देवराज वडीयर, दोड्ड देवराज वडीयर, इनके मन्त्री विशालाक्ष, मुम्मडि कृष्णराज वडीयर और कृष्णराज वडीयर (तृतीय)।

सन 1827 के अभिषेक का वर्णन एक शिलालेख में है। सन् 1879 के महाभिषेक का वर्णन 'इण्डियन एण्टीक्वेरी' में है, जब मूर्ति का नाप लिया गया था।

सन 1887 के अभिषेक का वर्णन 'एपिग्राफिया कर्नाटिका' में रोचक ढंग से किया गया है।

सन् 1900, 1910, 1925 1940, 1953, और 1967 के महामस्तकाभिषेक के विशद वर्णन उपलब्ध हैं। 1967 के महामस्तकाभिषेक के आयोजन के समय स्वर्गीय श्री साहू शान्तिप्रसाद जैन ने विविध कार्यक्रमों को नियोजित करने और उन्हें सफल बनाने मे जो श्रम किया तथा समाज को मार्गदर्शन दिया, वह चिर-स्मरणीय रहेगा। उनके अग्रज श्री साहू श्रेयांसप्रसाद उस परम्परा को आगे बढ़ाकर 1981 के सहस्राब्दि-प्रतिष्ठान-महोत्सव को सफल बनाने के लिए जिस प्रकार दिन-रात कार्यरत हैं वह निस्संदेह स्तुत्य है। यह देश का सौभाग्य है कि परम विद्वान, तपस्वी और वर्चस्वी साधु एलाचार्य विद्यानन्द जी महाराज की प्रेरणा देश-व्यापी प्रभाव उत्पन्न कर रही है। एक मणिकांचन सुयोग यह भी हुआ कि आज श्रवणबेलगोल की धर्मपीठ के कर्मठ, तत्वज्ञ और शान्तपरिणामी तरुण त्यागमूर्ति भट्टारक स्वस्ति श्री चारुकीर्ति जी महाराज की छत्रछाया में इस क्षेत्र का उत्तरोत्तर विकास हो रहा है। इस विकास के इतने नये आयाम हैं कि देखकर चमत्कृत हो जाना पड़ता है।

1981 का सहस्राब्दि-महोत्सव विश्व के धार्मिक-सांस्कृतिक इतिहास में अपना विशेष महत्त्व रखेगा इसमें सन्देह नहीं, क्योंकि लाखों नर-नारी इसमें सम्मिलित होंगे और विश्व के दूरदर्शन-केन्द्र, फिल्म-निर्माता, रेडियो-स्टेशन आदि अपूर्व रुचि लेंगे।

धन्य भाग्य उनके जिनके जीवन में यह अवसर आ रहा है।



आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती विचरित

गोमटेस-थुदि

(1)

विसट्ट-कंदोट्ट-दलाणुयारं,
सुलोयणं चंद-समाण-तुण्डं ।
घोणाजियं चम्पय-पुप्फसोहं,
तं गोमटेसं पणमामि णिच्चं ॥

(2)

अच्छाय-सच्छं जलकंत-गंडं,
आबाहु-दोलंत सुकण्णपासं ।
गइंद - सुण्डुज्जल - बाहुदण्डं,
तं गोमटेसं पणमामि णिच्चं ॥

(3)

सुकण्ठ-सोहा-जियदिव्वसोक्खं,
हिमालयुद्दाम-विसाल-कंधं ।
सुपेक्ख-णिज्जायल-सुट्ठुमज्झं,
तं गोमटेसं पणमामि णिच्चं ॥

(4)

विज्झायलग्गे, पविभासमाणं,
सिद्दामणि सव्व-सुचेदियाणं ।
तिलोय - संतोलय - पुण्णचंदं,
तं गोमटेसं पणमामि णिच्चं ।।

(5)

लयासमक्कंत - महासरीरं,
भव्वावलीलद्ध-सुकप्परुक्खं ।
देविंदविंदच्चिय पायपोम्मं,
तं गोमटेसं पणमामि णिच्चं ।।

(6)

दियंबरो यो ण च भीइजुत्तो,
ण चांबरे सत्तमणो विसुद्धो ।
सप्पादि-जंतुप्फुसदो ण कंपो,
तं गोमटेसं पणमामि णिच्चं ।।

(7)

आसां ण ये पेक्खदि सच्छदिट्ठि,
सोक्खे ण बंछा हयदोसमूलं ।
विरागभावं भरहे विसल्ल,
तं गोमटेसं पणमामि णिच्चं ।।

(8)

उपाहिमुत्तं धण-धाम-वज्जियं,
सुसम्मजुत्तं मय-मोहहारयं ।
वस्सेय पज्जंतमुवास-जुत्तं,
तं गोमटेसं पणमामि णिच्चं ।।

गोम्मटेश्वर-स्तुति

[हिन्दी पद्यानुवाद : लक्ष्मीचन्द्र जैन)

(1)

चारु लोचन नील उत्पल-दल सदृश,
चन्द्रमा के बिम्ब-सा मुख समुज्ज्वल,
नासिका ज्यों फूल चम्पा का सुभग,
नित्य मैं उन गोम्मटेश्वर को नमूं ।

(2)

स्वच्छ छाया-हीन वपु, सु-कपोल ज्यों
जल-कान्ति; फैले कर्ण युग आबाहु,
गजराज की मित शुण्ड-से भुज-दण्ड,
नित्य मैं उन गोम्मटेश्वर को नमूं ।

(3)

दिव्यता को विजित करती कण्ठ-छवि,
स्कन्ध हिमगिरि सदृश तुङ्ग विशाल,
दृष्टि-सुख है मध्य का कटि भाग,
नित्य मैं उन गोम्मटेश्वर को नमूं ।

(4)

विन्ध्यगिरि के शिखर पर प्रद्योत,
भव्यजन के बोध-सौध-शिखासुमणि,
शान्तिदायक पूर्णचन्द्र त्रिलोक के,
नित्य मैं उन गोम्मटेश्वर को नमूं।

(5)

समाच्छादित लताओं से तुङ्ग तन,
भव्य प्राणी पा गये तरु कल्प,
इन्द्रगण नित पूजते पद-पद्म,
नित्य मैं उन गोम्मटेश्वर को नमूं।

(6)

जो दिगम्बर श्रमण नित भय-मुक्त,
त्यक्त अम्बर, शान्त मन, परिशुद्ध,
जन्तु अहि तन पर, तदपि निष्कम्प,
नित्य मैं उन गोम्मटेश्वर को नमूं।

(7)

विगत आश-निराश, निर्मल दृष्टि,
सुख अवांछित, दोष सब निर्मूल,
मन विरागी, भरत-शल्य-विलीन,
नित्य मैं उन गोम्मटेश्वर को नमूं।

(8)

धाम-धन वर्जित, उपाधि-विमुक्त,
मोह-मद-माया रहित, सम भाव,
वर्ष का उपवास धर, ध्यानस्थ,
नित्य मैं उन गोम्मटेश्वर को नमूं।

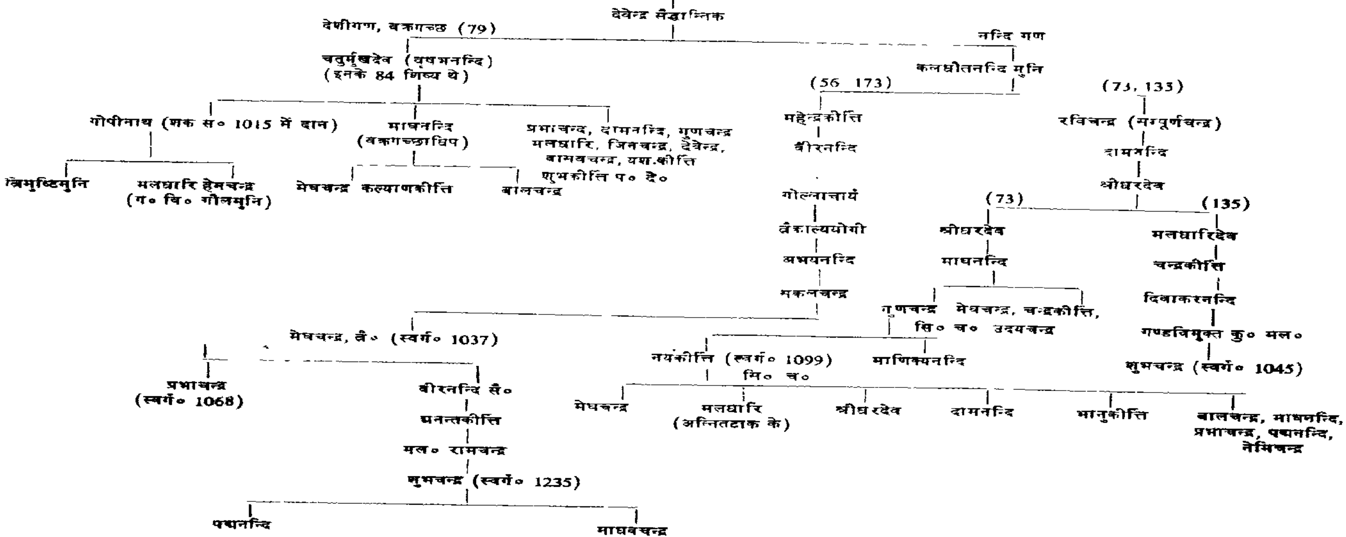
परिशिष्ट

परिशिष्ट 1

- शिलालेख संग्रह भाग 1 से
- लेखों के क्रमांक 'एपिग्राफिया कर्नाटिका' के नये संस्करण के अनुसार हैं।

मूल संघ के नन्दि गण और देशीगण का वंशवृक्ष

(लेख क्र० 73, 79, 135, 150 और 173)



परिशिष्ट 2

समस्त शिलालेखों का स्थान और शताब्दी-क्रम से विश्लेषण

श्रवणबेल्गोल, उसकी दोनों पहाड़ियों तथा आसपास के क्षेत्र में प्राप्त कुल 573 शिलालेखों में कितने शिलालेख किस शताब्दी के और किस स्थान पर हैं इसका विवरण निम्नलिखित तालिका में दिया गया है। यह विवरण 'एपिग्राफिया कर्नाटिका' के नये संस्करण के आधार पर प्रस्तुत किया गया है।

काल	चिक्कबेट्ट (चन्द्रगिरि)	दोड्डबेट्ट (विंध्यगिरि)	श्रवणबेल्गोल (नगर)	समीप के ग्राम	योग
6-7वीं शताब्दी	1	—	—	—	1
7वीं शताब्दी	54	—	—	—	54
8वी शताब्दी	20	—	—	—	20
9वीं शताब्दी	10	—	—	—	10
10वीं शताब्दी	69	7	—	—	76
11वीं शताब्दी	41	3	2	4	50
12वीं शताब्दी	53	38	15	22	128
13वीं शताब्दी	16	16	10	10	52
14वीं शताब्दी	3	7	8	3	21
15वीं शताब्दी	—	20	8	3	31
16वीं शताब्दी	—	11	2	3	16
17वीं शताब्दी	3	38	15	4	60
18वीं शताब्दी	—	28	3	—	31
19वीं शताब्दी	1	4	17	1	23
	271	172	80	50	573

परिशिष्ट 3

शिलालेखों में उल्लिखित प्रमुख आचार्यों, मुनियों और पण्डितों की नामावलि

नामावलि में वर्णित आचार्य, मुनि आदि का परिचय माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला से प्रकाशित 'शिलालेख संग्रह' भाग 1 पर आधारित है, किन्तु शिलालेखों के क्रमांक 'एपिग्राफिया कर्नाटिक' के नये संस्करण के अनुसार दिये गये हैं।

संकेताक्षरों का अर्थ

अ० या अनु० = अनुमानतः। कु० = कुक्कुटासन। त्रै० देव = त्रैविद्यदेव। पं० आचार्य = पंडिताचार्य। पं० देव = पंडितदेव। ब्रह्म = ब्रह्मचारी। म० म० = महामण्डलाचार्य। मू० दे० पु० = मूल संघ, देशीगण, पुस्तक-गच्छ। सि० देव = सिद्धान्तदेव। सि० च० = सिद्धान्त चक्रवर्ती। सि० मु० = सिद्धान्त मुनीश्वर।

क्रमांक	आचार्य-नाम	गुरु-नाम	लेख क्र०	शक संवत्	विशेष विवरण
1	बलदेव मुनि	कनकसेन	2	अ० 572	समाधिमरण।
2	शान्तिसेन मुनि	—	34	"	समाधिमरण। भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त मुनीन्द्र ने जिस धर्म की उन्नति की थी उनके क्षीण होने पर इन मुनिराज ने उसे पुनरुत्थापित किया।

3	अरिष्टनेमि आचार्य	—	13 16 233	"	समाधिमरण। इनके अनेक शिष्य थे। समाधि के समय '**बिण्डकैराज**' साक्षी थे। लेख क्र० 16 व 233 यद्यपि क्रमशः 8वीं व 9वीं शताब्दी के अनुमान किये जाते हैं तथापि सम्भवतः उनमें भी इन्हीं आचार्य का उल्लेख है। लेख क्र० 233 में वे '**परसमयध्वंसक**' पद से विभूषित किये गये हैं तथा '**मले गोल**' कहे गये हैं।
4	वृषभनन्दि आचार्य	—	85	"	इनके किसी शिष्य ने समाधिमरण किया।
5	मौनि गुरु	—	23	अ० 622	एक शिष्या का समाधिमरण। ये ही सम्भवतः लेख क्र० 10 के गुणसेन गुरु के तथा लेख क्र० 121 के वृषभनन्दि गुरु के गुरु थे।
6	चरितश्री मुनि	—	14	"	समाधिमरण।
7	पानप (मौनद)	—	11	"	समाधिमरण।
8	बलदेव गुरु	धर्मसेन गुरु	27	"	समाधिमरण। इनके गुरु 'कित्तूर' परगने में 'बेलमाद' नामक स्थान के थे।
9	उग्रसेन गुरु	पट्टिनि गुरु	28	"	समाधिमरण। इनके गुरु 'मालनूर' के थे। उग्रसेन ने एक मास तक अनशन किया।
10	गुणसेन गुरु	मौनि गुरु	10	"	समाधिमरण। लेख क्र० 23 में सम्भवतः इन्हीं मौनिगुरु का उल्लेख है। गुणसेन 'कोट्टूर' के थे।
11	उल्लिक्कल गुरु	—	7	"	समाधिमरण।
12	कालावि (कला-पक) गुरु	—	36	"	एक शिष्य का समाधिमरण।
13	नागसेन गुरु	ऋषभसेन गुरु	37	"	समाधिमरण।

क्रमांक	आचार्य-नाम	गुरु-नाम	लेख क्र०	शक संवत्	विशेष विवरण
14	सिंहनन्दि गुरु	वेट्टेडे गुरु	35	अ० 622	समाधिमरण।
15	गुणभूषित	—	32	"	सन्द्विगगण (?)। समाधिमरण। लेख बहुत घिसा है, इससे भाव स्पष्ट नही हुआ।
16	मेल्लगवास गुरु	—	31	"	समाधिमरण। ये गुरु 'नुंगूर' के थे।
17	नन्दिसेन मुनि	—	99	"	समाधिमरण।
18	गुणकीर्त्ति	—	120	"	समाधिमरण।
19	वृषभनन्दि मुनि	मौनिय आचार्य	121	"	नविलूर सघ। समाधिमरण।
20	चन्द्रदेवाचार्य	—	94	"	समाधिमरण। ये 'नदि' राज्य के थे।
21	मेघनन्दि मुनि	—	124	"	नमिलूर संघ। समाधिमरण।
22	नन्दि मुनि	—	126	"	समाधिमरण।
23	महादेव मुनि	—	90	"	समाधिमरण।
24	सर्वज्ञभट्टारक	—	15	"	समाधिमरण। ये 'वेगुरा' के थे।
25	अक्षयकीर्त्ति	—	24	"	समाधिमरण। ये दक्षिण 'मदुरा' से आये थे। इन्हें सर्प ने सताया था।
26	गुणदेव सूरि	—	26	"	समाधिमरण!
27	मासेन (महासेन) ऋषि	—	30	"	समाधिमरण।
28	सर्वनन्दि	चिकुरापरविय(?)	39	"	समाधिमरण। चिकुरा परविय का तात्पर्य चिकूर के परविय गुरु या चिकुरापरविय के गुरु हो सकता है। 'परवि' एक प्राचीन तालुके का नाम भी पाया जाता है।

29	बलदेवाचार्य	—	92	श० 622	समाधिमरण।
30	पद्मनन्दि मुनि	—	93	"	समाधिमरण।
31	पुष्पनन्दि	—	95	"	समाधिमरण।
32	विशोक भट्टारक	—	104	"	कोलातूर सघ। समाधिमरण।
33	इन्द्रनन्दि आचार्य	—	110	"	समाधिमरण।
34	पुष्पसेनाचार्य	—	118	"	नविलूर संघ। समाधिमरण।
35	श्रीदेवाचार्य	—	119	"	समाधिमरण।
36	मल्लिसेन भट्टारक	—	5	श० 9वी शताब्दी	समाधिमरण। इनके एक शिष्य ने तीर्थ-वन्दना की।
37	कुमारनंदिभट्टारक	—	168	"	समाधिमरण।
38	अजितसेनभट्टारक	—	64	श० 896	लेख क्र० 64 में कहा गया है कि गङ्गनरेश मारसिंह ने इनके निकट समाधिमरण किया। लेख क्र० 150 के अनुसार इनके शिष्य चामुण्डराय के पुत्र जिनदेवन ने जिन-मंदिर बनवाया।
	" मुनि		150		
39	मलधारिदेव	नयनन्दि विमुक्त	240	श० 970	नयनन्दि विमुक्त के एक शिष्य ने तीर्थ-वन्दना की।
40	पद्मनन्दिदेव	—	(?)	श० 1000	महामण्डलेश्वर त्रिभुवनमल्ल कोङ्गाल्व ने कुछ भूमि का दान किया।
41	प्रभाचन्द्रसिद्धान्त देव	—	500	श० 1001	चैत्यालय के हेतु कोङ्गाल्व नरेश अदटरादित्य द्वारा भूमिदान। उपाधि—उभयसिद्धान्तरत्नाकर।
42	गण्डविमुक्तदेव	—	(?)		मूलसंघ, कानूर गण, तगरिल गच्छ। कोङ्गाल्वनरेश राजेन्द्र पृथुवी द्वारा वसदि-निर्माण और भूमिदान।
43	देवमन्दि भट्टारक	—	520	श० 1000	—

क्रमांक	आचार्य-नाम	गुरु-नाम	लेख क्र०	शक संवत्	विशेष विवरण
44	गोपनन्दि पण्डित देव	चतुर्मुखदेव	565	अ० 1015	मू० दे० पू० । पोय्सलनरेश त्रिभुवनमल्ल एरेयङ्ग ने बसदियों के जीर्णोद्धार के हेतु ग्राम का दान किया। गोपनन्दि ने क्षीण होते हुए जैनधर्म का गङ्ग-नरेशों की सहायता से पुनरुद्धार किया। वे षड्दर्शन के ज्ञाता थे।
45	देवेन्द्रसिद्धान्तदेव	—	565	"	मू० दे० पु० । उपर्युक्त नरेश के गुरुओं में से थे।
46	अकलङ्क पण्डित	—	46	अ० 1020	—
47	सातनन्दि देव	—	152	"	चरणचिह्न हैं।
48	चन्द्रकीर्त्तिदेव	—	153	"	"
49	अभयनन्दिपण्डित	—	51	अ० 1022	एक शिष्य ने देववन्दना की।
50	शुभचन्द्रसि०देव	कु०मलधारि देव	155	1037	मू० दे० पु० । ये पोय्सल नरेश विष्णुवर्द्धन के मंत्री गंगराज दण्ड-नायक और उनके कुटुम्ब के गुरु थे। इन्होंने उक्त कुटुम्ब के सदस्यों से कितने ही जिनालय निर्माण कराये, जीर्णोद्धार कराया, मूर्तियाँ प्रतिष्ठित कराईं और कितनों ही को दीक्षा, सन्यास आदि दिये।
			82	1039	
			154, 160, 80, 84	1040	
			503, 504, 547, 550	अ० 1041	

			158	1042	
			157 161	1044	
			176	1050	
			342	ल० 1100	
51	दिवाकरनन्दि	देवेन्द्र सि० देव	484	1041	मू० दे० पु०। इस लेख से यह गुरुक्रम विदित होता है— देवेन्द्र सि० देव | दिवाकरनन्दि | मलधारिदेव — शुभचन्द्र देव सि० मु०
52	भानुकीर्त्तिमुनि	—	170	1039	मू० दे०। पोय्सल राजसेट्टि ने इनसे दीक्षा ली।
53	प्रभाचन्द्रसि०देव	मेघचन्द्र त्रै० देव	174 175	1041	इनकी एक शिष्या ने पट्टशाला (वाचनालय) स्थापित कराई। ये
			136	1043	विष्णुवर्द्धन नरेश की रानी शान्तलदेवी के गुरु थे। उनके निर्माण
			162	1045	कराये हुए सवतिगन्धवारण मन्दिर के लिए इन्हें ग्राम आदि के दान
			176	1050	दिये गये थे।
54	चारुकीर्त्ति देव	—	176	"	लेख के लेखक वोकिमय्य के गुरु।
55	कनकनन्दि	—	136	1043	ये मुल्लूर निवासी थे (मुल्लूर कुर्ग में है)। नृपकाम पोय्सल के आश्रित एचिमाङ्क के गुरु थे।

क्रमांक	आचार्य-नाम	गुरु-नाम	लेख क्र०	शक संवत्	विशेष विवरण
56	वर्धमानदेव	—	176	1050	इनकी और प्रभाचन्द्र सि० देव की साक्षी से शान्तलदेवी की माता ने संन्यास लिया था।
57	रविचन्द्रदेव				
58	गण्डविमुक्त सि० देव	—	371	1050	मू० दे० पू०। इनके शिष्य दण्डनायक भरतेश्वर ने भुजबलि स्वामी का
			204	अ० 1070	पादपीठ निर्माण कराया।
59	नयकीर्त्ति	—	(?)	1050	विष्णुवर्धन नरेश के राज्यकाल में नयकीर्त्ति का स्वर्गवास हो जाने पर
			—	—	कल्याणकीर्ति को जिनालय बनवाने व पूजनादि के हेतु भूमि का दान दिया गया।
60	कल्याणकीर्त्ति	—			—
61	भानुकीर्तिदेव	—	532	अ० 1057	—
62	माघवचन्द्रदेव	शुभचन्द सि० देव	532	"	मू० दे० पू०।
63	नयकीर्त्तिदेव	—	517	अ० 1065	—
64	म०म०(हिरिय) नयकीर्ति देव (चिक्क)	—			
65	शुभकीर्तिदेव	—	81	अ० 1067	—
66	त्रिकालयोगी	—	529	अ० 1067	—
67	अभयदेव	—	529	"	मूल संघ।
68	कु० मलधारिदेव	—	476	अ० 1080	हुल्ल मंत्री के गुरु।

69	नयकीर्ति सि०	गुणचन्द्र सि०	476	"		मू० दे० पू०। हनसोगे शाखा। हुल्ल मंत्री ने ग्राम का दान किया।
	देव (म० म०)	दे०	279	अ०	1020	
			443	"		
			281-90	"		
			294	"		
			296	"		
			297	"		
70	दामनन्दि त्रै०		481		1081	—
	देव		476	अ०	1087	
71	भानुकीर्ति सि०		205	"	1092	—
	देव	म० म० नय-	202	"	1092	—
72	बालचन्द्रदेव	कीर्तिदेव	565	"	1095	मू० दे० पू०। हनसोगे शाखा। कुन्दकुन्दाचार्य के प्राभृत-त्रय पर
	अध्यात्मि		342	"	1100	इनकी कन्नड़ी टीका पाई जाती है।
73	प्रभाचन्द्रदेव		285		"	—
			81		"	—
74	माघनन्दि		336	"	1102	
	भट्टारक		444	"	1103	
75	पद्मनन्दिदेव		453		"	
	मंत्रवादि		571		1104	
76	नेमिचन्द्र पं०देव		457	अ०	1118	
			293, 295, 292	"	1120	

क्रमांक	आचार्य-नाम	गुरु-नाम	लेख क्र०	शक संवत्	विशेष विवरण
			455	अ० 1128	
			286	" 1153	
77	लक्खनन्दिमुनि	देवकीर्ति म०म०	—	—	देवकीर्ति मुनि बड़े भारी कवि, तार्किक और वक्ता थे। उक्त तिथि को उनका स्वर्गवास होने पर उनके शिष्यों ने उनकी निषद्या बनवाई।
78	माधवचन्द्रव्रती		70	1085	
79	त्रिभुवनमल्ल मेघयोगी				
80	चन्द्र	बालचन्द्र अध्यात्मी	(?)	1108	मू० दे० पू०। इनके एक शिष्य रामदेव विभ्र ने जिनालय बनवाया व दान दिया।
81	नयकीर्तिदेव	(हिरिय) नय-कीर्त्तिदेव	535	अ० 1110	—
82	धनकीर्तिदेव	—	210	1112	—
83	चन्द्रप्रभदेव म० म०	हिरियनय-कीर्त्तिदेव	339-40	अ० 1108	—
				1120	—
84	चन्द्रकीर्ति	—	189	अ० 1120	—
85	कनकनन्दिदेव	—	260	"	इनकी प्रतिमा है।
86	मल्लिषेण	—	505	"	—
87	सागरनन्दि सि० देव	शुभचन्द्र त्रै० देव	526	"	मू० दे० पू०।

88	शुभचन्द्र त्रै० देव	माघनन्दि सि देव०	526	"	मू० दे० पु० ।
89	वादिराज	—	572	श० 1122	—
90	मल्लिषेण मलधारि	—	"	"	—
91	श्रीपालयोगीन्द्र	—	"	"	—
92	वादिराजदेव	श्रीपाल योगीन्द्र	"	"	—
93	शान्तिसिंगपण्डित	"	"	"	—
94	परवादिमल्लपण्डित	"	"	"	—
95	नेमिचन्द्र पं० देव म० म० राजगुरु	"	539	1136	—
96	अभयनन्दि	—	480	श० 1170	—
97	सुरकीर्त्ति	—	"	"	—
98	गुणचन्द्र	—	"	"	—
99	भानुकीर्त्ति	माघनन्दि सि० च०	(?)	1170	—
100	माघनन्दि भट्टारक	भानुकीर्त्ति	"	"	—
101	चन्द्रप्रभदेव	नयकीर्त्ति देव म० म०	348	श० 1196	—

क्रमांक	आचार्य-नाम	गुरु-नाम	लेख क्र०	शक संवत्	विशेष विवरण
102	चन्द्रकीर्ति भट्टारक	—	345	अ० 1197	—
103	प्रभाचन्द्र भट्टारक	—	346, 349	"	—
104	मुनिचन्द्रदेव	उदयचन्द्रदेव म० म०	476	1200	—
105	पद्मनन्दिदेव	चन्द्रप्रभदेव	"	"	—
106	कुमुदचन्द्र	—	451	1205	—
107	माघनन्दि सि० च०	—	"	"	होयसलराय राजगुरु। सम्भवत: ये ही उस शास्त्रसार के कर्ता हैं जिसका उल्लेख प्रारम्भ के एक श्लोक में आया है।
108	बालचन्द्रदेव	नेमिचन्द्र पं० देव	557	अ० "	मू० दे०। इंगिलेश्वर बलि।
109	अभिनव पण्डिताचार्य	—	353	अ० 1233	—
110	पद्मनन्दिदेव	त्रैविद्यदेव	375	अ० 1238	मू० दे० पु०। समाधिमरण।
111	चारुकीर्ति पं० आचार्य	—	482	अ० 1239	—
112	" (अभिनव)	—	472	अ० 1247	एक शिष्य ने मंगायि बसदि निर्माण कराई।
			470	"	
113	मल्लिषेणदेव	लक्ष्मीसेन भट्टारक	253	अ० 1320	निषद्या।

114	सोमसेनदेव	—	377	"	एक शिष्य ने वन्दना की।
115	भुवनकीर्त्तिदेव	—	378	"	निषद्या।
116	सिंहनन्दिआचार्य	—	382	"	—
117	हेमचन्द्रकीर्त्तिदेव	शान्तिकीर्त्तिदेव	379	"	निषद्या।
118	चन्द्रकीर्त्ति	—	361	1331	भूमिदान।
119	पण्डिताचार्य व पण्डितदेव	—	467 423	अ० 1330 "	इनकी शिष्या देवराय महाराय की रानी भीमादेवी ने मूर्ति प्रतिष्ठा कराई।
120	श्रुतमुनि	पण्डितार्यमुनि	357	1344	इनके समक्ष दण्डनायक इरुगप ने बेलगोल ग्राम का दान किया।
121	जिनसेन भट्टारक (पट्टाचार्य)	—	354	अ० 1360	संघ सहित वन्दना को आये।
122	अभिनव पण्डित देव	चारुकीर्त्ति पं० देव	363	1371	—
123	पण्डितदेव	—	545 471	अ० 1420	—
124	चारुकीर्तिभट्टारक	—	387	अ० 1520	चरणचिह्न।
125	पण्डितदेव	—	365	अ० 1531	—
126 127	ब्रह्म० धर्मरुचि " गुणसागर	अभयचन्द्रभट्टारक	304	वि० संवत् 1558	यात्रा।
128	चारुकीर्त्तिपं० देव	—	352	1556	इनके समक्ष मैसूर-नरेश ने मन्दिर की भूमि ऋणमुक्त कराई।
	"	—	497	1565	स्वर्गवास।

क्रमांक	आचार्य-नाम	गुरु-नाम	लेख क्र०	शक संवत्	विशेष विवरण
129	धर्मचन्द्र	चारुकीर्ति	422	1570	बलात्कार गण। इनके उपदेश से बघेरवालों ने चौबीसतीर्थंकर प्रतिमा प्रतिष्ठित कराई।
130	श्रुतसागर वर्णी		421	1602	इनके साथ तीर्थ-यात्रा।
131	इन्द्रभूषण	राजकीर्त्ति के शिष्य लक्ष्मीसेन	384	वि० सं० 1719	इनके साथ बघेरवालों ने तीर्थयात्रा की।
132	अजितकीर्ति	चारुकीर्ति | अजितकीर्ति | शान्तिकीर्ति	252	1731	देसी गण। एक मास के अनशन से सल्लेखना।
133	चारुकीर्ति पं० आचार्य	—	(?)	1732 1752	मू० दे० पु०। मैसूर-नरेश कृष्णराज की ओर से सनदें प्राप्त कीं।
134	सन्मतिसागरवर्णी	चारुकीर्त्ति गुरु	(?)	1778	मू० दे० पु०। इनके मनोरथ से बिम्बस्थापना की गई।
			494	”	
			495	”	
			490	1780	
			493	”	

परिशिष्ट 4

शिलालेखों में राज-वंश और समय

श्रवणबेल्गोल में और इसके परिवेश में पाये जाने वाले शिलालेख कर्नाटक प्रदेश के इतिहास के लिए कितने महत्वपूर्ण हैं, यह निम्नलिखित सूची से स्पष्ट होगा। इसमें उन प्रमुख राजाओं, सेनापतियों और राजपुरुषों के नाम दिये हैं जिनका उल्लेख सम्बन्धित क्रमांकों के शिलालेखों में है।

शिलालेखों का पाठ और विषय 'एपिग्राफिया कर्नाटिका' के नये संस्करण के आधार पर दिया है।

शासक	सन्	शिलालेख क्रमांक
	राष्ट्रकूट-वंश	
कम्बय्य	आठवीं शताब्दी	38
इन्द्र-चतुर्थ	982	163
	गंग वंश	
सत्यवाक्य पेरमानडि	884	544
राचमल्ल द्वितीय	दसवीं शताब्दी	171
एड़ेगंग द्वितीय	दसवीं शताब्दी	186
मारसिंह द्वितीय	दसवीं शताब्दी	64
— —	दसवीं शताब्दी	40, 150, 272, 273, 276, 388
	कल्याण के चालुक्य	
विक्रमादित्य षष्ठ	1079	563

शासक	सन्	शिलालेख क्रमांक
"	1094	568
"	—	532
	होयसल वंश	
विष्णुवर्धन	1113	155
	1115	156
	1118	82
	1119	547
	1123	162
	1124	569
	1131	176
	1138	552
	1139	174
	1145	173
	—	69, 161, 355, 502, 518, 538, 558, 561
नरसिंह प्रथम	1159	476, 481
"	1163	71
"	—	275, 278
बल्लाल द्वितीय	1173	565
"	1181	362, 444, 571
"	1195	457
"	—	342, 455, 564
नारसिंह देव द्वितीय	1231	286
"	1273	348
—	1117	170
—	1120	136, 158
—	1122	157
—	1123	135
—	1139	175
—	1176	73
	12वीं शताब्दी	80, 84, 149, 154, 160

शासक	सन्	शिलालेख क्रमांक
		179, 274, 277, 322, 359, 371-73, 453, 477, 503, 504, 531, 550
—	13वीं शताब्दी	455, 526, 528, 573
	विजयनगर	
बुक्कराय प्रथम	1368	475
हरिहर द्वितीय	1404	446
देवराय प्रथम	1422	357
देवराय द्वितीय	1446	445, 447
—	15वीं शताब्दी	467
	मैसूर के ओडेयर	
चामराज सप्तम	1634	352, 485
दोड्डदेवराज	1672	551
चिक्क देवराज	—	501
दोड्ड कृष्णराज प्रथम	1723	351
कृष्णराज तृतीय	1827	324
	चङ्गाल्व	
चङ्गाल्व महादेव	1509	329
	नुग्गेहल्लि	
तिरुमल-नायक	16वीं शताब्दी	556
	कदम्ब वंश	
कदम्ब	9वीं शताब्दी	206
	नोलम्ब व पल्लववंश	
नोलम्ब	11वीं शताब्दी	388
शंकर नायक (पल्लव)	13वीं "	256, 257

शासक	सन्	शिलालेख क्रमांक
	चोलवंश	
चोल पेर्मडि	10वीं शताब्दी	524
नरसिंह वर्मा	12वीं शताब्दी	342, 355, 547
	निडुगल वंश	
इरुंगोल	1177	73
"	1169	481

इनके अतिरिक्त सैकड़ों ऐसे भी शिलालेख हैं जिनमें उपर्युक्त वंशों के साथ-साथ अन्यान्य अनेक राजवंशों के राजाओं, मंत्रियों, सेनापतियों आदि के नामों का स्पष्ट उल्लेख है। विस्तार-भय से उनके नाम यहाँ पर देना संभव नहीं है, अतः निम्नलिखित सूची में उनका काल तथा शिलालेख क्रमांक मात्र का दिया जा रहा है—

समय	शिलालेख क्रमांक
6वीं शताब्दी	1
7वीं शताब्दी	2, 13-15, 20-37, 85-87, 90, 91, 94,98, 99, 103, 104, 108, 110-14, 116-24, 126, 129, 130, 132-34, 219
8वीं शताब्दी	6-11, 16-17, 39, 41, 53, 83, 88-89, 92-93, 95-96, 271
9वीं शताब्दी	12, 60, 67, 68, 102, 140, 192, 223, 250
10वीं शताब्दी	3-5, 18, 19, 42-45, 48, 52, 63, 78, 100, 105, 106, 115, 125, 137-139, 142, 145, 159, 165, 166, 168, 178, 180, 187, 188, 190, 191, 196, 199, 200, 214, 220-22, 224-234, 238, 239, 241-47, 249, 255, 425, 433, 434
11वीं शताब्दी	46, 47, 49-51, 56-59, 61, 65, 66, 97, 107, 109, 127, 128, 131, 141, 143, 144, 146, 147, 151-53, 164, 193-95, 197, 198, 201, 203, 213, 215, 235-37, 240, 248, 251, 258, 426, 430, 431, 520, 521, 560
12वीं शताब्दी	54, 55, 62, 70, 77, 79, 81, 148, 167, 177, 181-84,

समय	शिलालेख क्रमांक
	189, 202, 204, 205, 207, 208-12, 216-18, 260, 279-81, 287-90, 293-98, 301, 336-40, 343, 344, 356, 374, 389, 432, 443, 460, 469, 484, 523, 533, 534, 548, 549, 559, 562, 566, 567, 572
13वीं शताब्दी	101, 185, 254, 259, 261-70, 285, 299, 300, 345-47, 358, 375, 419, 420, 435, 440, 441, 456, 458, 459, 478-80, 483, 505, 517, 522, 535-36, 539, 554-55, 557, 570
14वीं शताब्दी	72, 169, 253, 353, 360, 377-380, 382, 449, 470, 472, 482, 499, 500, 506, 523, 537, 541, 546
15वीं शताब्दी	282-84, 291, 292, 303, 304, 330-34, 354, 363, 364, 381, 383, 438, 450, 473, 474, 543, 545
16वीं शताब्दी	302, 305, 323, 325-28, 376, 387, 471, 519, 527, 553
17वीं शताब्दी	74-76, 306, 365, 370, 384-86, 390, 394-98, 400, 407-18, 421-24, 427-29, 437, 439, 442, 451, 452, 497, 498, 507-16, 525, 540, 542, 551
18वीं शताब्दी	307-21, 341, 350, 366-69, 391-93, 401, 404, 405, 448, 454
19वी शताब्दी	252, 335, 402, 403, 461-66, 486-96, 530

परिशिष्ट 5

शिलालेखों में महिलाएँ

जैन धर्म और संस्कृति का प्रभाव जीवन में कितना गहरा और व्यापक था इसका प्रमाण उन महिलाओं की नामावलि प्रस्तुत करती है जिनका उल्लेख श्रवणबेलगोल के शिलालेखों मे आया है । यह सूची अकारादि क्रम से बनाई गई है । विशिष्ट नामों का परिचय-संकेत है। साथ में उन शिलालेखों का संदर्भ भी जिनमें प्रत्येक नाम आया है । लेख संदर्भ 'एपिग्राफिया कर्नाटिका' के नये संस्करण के आधार पर है ।

महिलाएँ

अक्कब्बे : चन्द्रमौलि मंत्री की माता 444
अत्तिमब्बरसि, अत्तिमब्बे 82, 444, 532
आचलदेवी, आचले, आचाम्बा, आचियक्क : चन्द्रमौलि मंत्री की भार्या 362, 444, 571
आचलदेवी : हेम्माडिदेव की भार्या 444
आचाम्बिके : अरसादित्य की भार्या 322
एचब्बे 532
एचलदेवी 342, 444
एचलदेवी 444, 476, 481, 557, 569, 571
कामलदेवी : नागदेव मंत्री की भार्या 73, 457
केलियदेवी, केलेयब्बरसि : विनयादित्य होयसल नरेश की रानी 444, 476, 481, 571
गंगायी 408
गुज्जवे 356
गुणमतियब्बे 129
गौरश्रीकन्ति 374

परिशिष्ट 6

शिलालेखों में वर्णित उपाधियाँ

श्रवणबेल्गोल के सन्दर्भ में जैन धर्म और संस्कृति के जिस प्रभाव की चर्चा आचार्यों, मुनियों और श्रावकों के संयमित और आदर्शोन्मुख जीवन के प्रसंगों में की गयी है, उस सस्कृति ने गृहस्थ राजपुरुषों को उनके लौकिक कर्तव्य के प्रति भी सदा सचेत रखा है। शिलालेखों में उन शूरवीरों के पराक्रम का उल्लेख उनकी उपाधियों में प्रतिबिम्बित है। एक-एक रण-बांकुरे को अनेक उपाधियों से सम्मानित किया गया है। यहाँ पर कुछ प्रमुख उपाधियों का ही उल्लेख करना सम्भव हो पाया है। ये उपाधियाँ अपने अर्थ को स्वयं स्पष्ट करती हैं।

शिलालेखों के क्रमांक 'एपिग्राफिया कर्नाटिका' के नये संस्करण के अनुसार हैं। सन्दर्भ की सुविधा के लिए उपाधियाँ अकारादि क्रम से दी गयी हैं।

उपाधियाँ	लेख क्रमांक
अप्रतिमवीर	434 (जैन शिलालेख-संग्रह भाग 1)
अरिराय विभाड	475
अहित-मार्तण्ड	64
उदय-विद्याधर	172
कदन-कर्कश	64
कलिगलोलगण्ड	163
काडुवट्टि	64 पल्लव नरेशों की उपाधि
कीर्तिनारायण	163
गङ्गकन्दर्प	64
गङ्गगाङ्गेय	163
गङ्गचूडामणि	64
गङ्गमण्डलिक	64

उपाधियाँ	लेख क्रमांक
महासामन्ताधिपति	135, 136, 156, 532
माणिक्य भण्डारि	58, 71
भावन गन्धहस्ति	165
यदुतिलक	569
रट्टकन्दर्प	163
रणरङ्गभीम	571
रणरङ्गसिंग	388
राजमार्तण्ड	163
रायपात्र-चूडामणि	470
बड्डव्यवहारि	356, 377
वनगजमल्ल	64
वसुधैकबान्धव	526
वीरगङ्ग	82, 154, 162, 176, 342, 355, 444, 457, 476, 502, 547, 569
शनिवारसिद्धि	444, 571
श्रीकरणद हेग्गडे	71
श्रीपृथ्वी वल्लभ	272
षड्दर्शनस्थापनाचार्य	352
षड्धर्मचक्रेश्वर	485
संग्राम जत्तलट्ट	156, 176, 532
सत्याश्रयकुलतिलक	532, 568
समधिगतपञ्चमहाशब्द	135, 136, 156, 162, 342, 353, 374, 444 457, 476, 532, 568, 571
हिरिय दण्डनायक	518, 538
हिरिय भण्डारि	275, 342, 481
हिरिय माणिक्य भण्डारि	455

परिशिष्ट 7

शिलालेखों में शिल्पी और सहायक

पाँच सौ से अधिक शिलालेख बिना शिल्पियों के नाम के है, फिर भी कम से कम 12 शिल्पियों और सहायकों के नाम उपलब्ध हैं। प्रत्येक नाम के आगे शिलालेख का क्रमांक 'एपिग्राफिया कर्नाटिका' के नये संस्करण के आधार पर दिया गया है। नाम अकारादि क्रम से है :

शिल्पी और सहायक	शिलालेख क्रमांक
कंखरी (वादित्र)	432
कन्दाकार (सिपाही)	324
कम्मट (टकसाल का व्यक्ति)	294
चेन्नण, चेन्नण्ण—(मंदिर-शिल्पी)	516, 507, 512, 513, 515, 540
दागोदाजि (जीर्णोद्धारक)	(मा. च. ग्र. मा. से प्रकाशित शिला. सं. भाग : 1, शिला. क्र. 434)
दासोज (मूर्तिकार)	173
देवण (कारीगर)	336
नागवर्म (मूर्तिकार)	194
बैरोज (मूर्तिकार)	539
श्रीधरबोज (मूर्तिकार)	204



परिशिष्ट 8

शिलालेखों में वर्णित धर्मार्थ करों के नाम

पिछले तेरह सौ वर्षों मे श्रवणबेलगोल की तीर्थरक्षा, जीर्णोद्धार, पूजा अर्चना, मुनियों के आहार-दान, प्रहरियों और कर्मचारियो के वेतन तथा स्थान की सुव्यवस्था के लिए जो कर राज्य ने या तीर्थ-व्यवस्थापकों ने लगाये, शिलालेखो में उनमें से कतिपय करों के नाम निम्नलिखित सूची मे अकारादि क्रम मे दिये गये हैं। लेखों के क्रमांक 'शिलालेख संग्रह भा. 1', मा. च. ग्रन्थमाला के अनुसार हैं।

कर का नाम	शिलालेख-क्रमांक	कर का नाम	शिलालेख-क्रमांक
अन्याय	128	नामकाणिके	434
अभ्यागते	137	न्याय	128
आलेपोम्मु	434	पट्टदेसायिरु	434
आलेसुंक	434	पाशवारु	434
कटकसेसे	137	पुरवर्ग	434
कब्बिणदपोम्मु	434	बसदि	137
काडारम्भ	353	बेंडिगे	434
कालबाडिगे	434	मनरवत	137
खाण	137	मनेदेरे	138
गाडदेरे	138	मलब्रय	128, 137
गुरुकाणिके	434	येरुकाणिके	434
जातिकूट	434	हत्तिपोम्मु	434
जातिमणिय	434	हुल्लुहण	434
तिप्पेसुंक	138		